कृष्णदास संस्कृत सीरीज १८७

आचार्यदण्डिप्रणीतः

काव्यादर्शः

'शशिप्रभा' संस्कृत- हिन्दीव्याख्यासहितः

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ. जमुना पाठक

कृष्णदास संस्कृत सीरीज
१८७

*****

आचार्यदण्डिप्रणीतः

काव्यादर्शः

'शशिप्रभा' संस्कृत-हिन्दीव्याख्यासहितः

(सम्पूर्णम्)

सम्पादक एवं व्याख्याकार

डॉ० जमुना पाठक

एम. ए., पी-एच्. डी. (संस्कृत)

संस्कृत-विभाग, कला सङ्काय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

पुरोवाक्

संस्कृतसाहित्य-जगत् में आचार्य दण्डी का महनीय स्थान है । ये काव्य और काव्यशास्त्र दोनों क्षेत्रों के लब्धप्रतिष्ठ कवि और शास्त्रकार हैं। काव्यजगत् में तो इनका पदलालित्य गौरवशाली तथा अद्वितीय है। दण्डी काव्यशास्त्र के इतिहास में प्राचीन आचार्यों में महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित हैं। ये उस काल के प्रमुख काव्यशास्त्री हं जिस में काव्यशास्त्र के कुछ सिद्धान्त अपना परिपुष्ट रूप धारण कर चुके थे, कुछ पुष्पित और पल्लवित हो रहे थे तथा कुछ बीज और बीजाङ्कुर के रूप में विद्यमान थे । दण्डी ने परिपुष्ट सिद्धान्तों को सवाँरा, पुष्पित और पल्लवित सिद्धान्तों को पुष्ट किया, अङ्कुरित सिद्धान्तों को पुष्पित तथा पल्लवित करने का प्रयास किया तथा बीजों को अङ्कुरण के लिए स्थापित किया। इन सिद्धान्तों में परवर्तीकाल के आचार्यों द्वारा क्रमशः परिपुष्टता का सञ्चार होता रहा।

दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा विवेचित तथा सङ्केत रूप में निर्दिष्ट काव्य-शास्त्रीय तथ्यों की नये सिरे से व्याख्या करके उन्हें प्रथम अवस्था से द्वितीय अवस्था में पहुँचाने में सौकर्य प्रदान किया। अपने नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा द्वारा सूक्ष्म दृष्टि से परम्परागत प्राप्त सिद्धान्तों का परिष्कार करके उन्हें नूतन रूप से सुसज्जित किया तथा नवीन सिद्धान्तों की यथाशक्ति उद्भावना किया जो परवर्ती काल में काव्यशास्त्रियों के लिए मार्गदर्शक हुआ। इन काव्यशास्त्रियों की भामह से लेकर जगन्नाथ तक की लम्बी परम्परा है।

इन काव्यशास्त्रीय तथ्यों का प्रतिपादन दण्डी ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यादर्श में किया है। दण्डी का यह ग्रन्थ प्राचीनकाल से ही काव्यशास्त्रीय आचार्यों में विशेष समादरित रहा है। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि के कारण ही अनेक आचार्यों ने इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखा है। यह ग्रन्थ आज भी विद्वानों का स्नेहभाजन है।

काव्यादर्श की 'शशिप्रभा' नामक यह मूलानुसारिणी व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है । मूल के सम्यगवबोध के लिए सर्वप्रथम अन्वय, हिन्दी में शब्दार्थ, मूल का अनुवाद तथा पदानुसारिणी तथा समालोचनात्मक स्वकृत संस्कृत व्याख्या के साथ-साथ प्राचीन और अर्वाचीन व्याख्याओं के आधार पर समालोचनात्मक और तुलनात्मक दृष्टि से विशिष्ट तथ्यों का उद्घाटन 'विशेष' में दिया गया है। इस 'शशिप्रभा' नाम्नी संस्कृत-हिन्दी व्याख्या से अध्येताओं का स्वल्पमात्र भी सहयोग हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगा।

इस संस्करण की पूर्णता में करुणासागर भगवान् राम की इच्छा ही प्रबल हेतु है जिसके अभाव में इस सकल चराचर में कोई कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। इस परम्परा में श्रद्धेय गुरुजी प्रो० श्रीनारायणमिश्र और प्रो० कमला प्रसाद सिंह, संस्कृत विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी के प्रति सादर नमन है। ग्रन्थ में जो वैशिष्ट्य है वह गुरुकृपा की ही देन है और जो दोष है, वह मेरा है।

इस व्याख्या में जिन आचार्यों तथा विद्वानों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है उनके प्रति मैं सदा आभारी रहूँगा।

भइया डॉ० केशव प्रसाद पाठक, उपाचार्य, पी०जी० कालेज जगतपुर, वाराणसी का अहेतुक स्नेह तो सदैव बना रहता है, इसके लिए उनके प्रति नमन के अतिरिक्त मेरे पास कुछ नहीं है। अनुजकल्प डॉ० विजयशङ्कर पाण्डेय, उपाचार्य, पी०जी० कालेज कोयलसा आजमगढ़, डॉ० कृष्णदत्त मिश्र. उपाचार्य संस्कृत मा०गां० काशीविद्यापीठ वाराणसी, डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव तथा डॉ० उमेश प्रसाद सिंह उपाचार्य, संस्कृत विभाग, का० हि० विश्वविद्यालय वाराणसी को भी शुभाशीष दिये विना नहीं रह सकता, वे लोग समय-समय पर इस कार्य की पूर्णता के लिए प्रोत्साहित करते रहे।

अक्षरसज्जा के लिए वेङ्कटेश कम्प्यूटर कॉम्प्लेक्स, जानकीबाग कालोनी, लंका, वाराणसी, के निदेशक श्री केशव किशोर कश्यप जी एवं उनके कर्मचारीगण श्री प्रमोद, मुन्नलाल आदि, बधाई व धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने इस कार्य को पूर्ण संलग्नता और परिश्रम से सम्पादित किया है।

अन्त में मेरे अभिन्न तथा चौखम्भा संस्कृत सीरीज के सञ्चालक टोडर भइया विशेष धन्यवादार्ह हैं जिन्होंने इस कार्य को शीघ्र पूरा करने के लिए प्रेरित करके अपने सहयोग से विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया है।

स्खलन मानव-स्वभाव है अज्ञता या अवधानता के कारण दोष सम्भावित है अतः विज्ञजनों से दोषसुधार के लिए निवेदन है, अस्तु—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः।।

विद्वच्चरणानुरागी—

जमुना पाठक

जमुना पाठक

वसंत पञ्चमी, वि०सं० २०६१
१२ फरवरी, सन् २००५ ई०

भूमिकास्थविषयानुक्रमणिका

भूमिका

काव्यशास्त्र की परम्परा और आचार्य दण्डी

भारतीय काव्यशास्त्र जिसको परवर्ती आचार्यों ने साहित्यशास्त्र, क्रियाकल्प इत्यादि नामों से अभिहित किया है, प्राचीन आचार्यों ने उसे अलङ्कारशास्त्र नाम से अभिहित किया था। जब अलङ्कारशास्त्र नामकरण उस युग की देन है जब अलङ्कारतत्त्व काव्यमयी योजना के लिए सर्वाधिक महनीय माना जाता था। अलङ्कार युग आचार्य भामह से भी प्राचीन है तथा उद्भट, वामन और रूद्रट के समय तक विद्यमान। इसीलिए भामह ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार' रखा तथा टीकाकार उद्भट ने अपने टीका ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कार-सारसंग्रह' निर्धारित किया। इसी विद्या को आधार बना कर वामन और रूद्रट ने भी अपने ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार ही निर्धारित किया है। वस्तुत: साहित्यशास्त्र के आरम्भिक काल में अलङ्कार ही काव्य का सर्वाधिक महत्त्वशाली उपकरण माना जाता था। यह युग साहित्यशास्त्र के इतिहास में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अलङ्कार की गम्भीर मीमांसा करने पर एक ओर वक्रोक्ति का सिद्धान्त अङ्कुरित हुआ तो दूसरी ओर दीपक, पर्यायोक्ति, तुल्योगिता आदि अलङ्कारों के द्वारा काव्य में प्रतीयमान अर्थ से सम्पन्न ध्वनि का सिद्धान्त प्रस्फुटित हुआ। वकोक्ति तो अलङ्कार युग की ही देन है। इसलिए इस सम्प्रदाय के मूधर्न्य आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ वकोक्तिजीवित को काव्यालङ्कार नाम से भी अभिहित किया है— काव्यस्याधमलङ्कार: कोऽप्यपूर्वो विधीयते।[1] कुमारस्वामी के अनुसार रस, ध्वनि, गुण आदि विषयों के प्रतिपादक होने पर भी प्राधान्य दृष्टि से ही इस शास्त्र का अलङ्कारशास्त्र नाम युक्तियुक्त है।[2]

जब अलङ्कारशास्त्र में अनेक विचारों के समन्वय का विकास हुआ तो अलङ्कार शब्द में वह बृहत्काया को समाहित करने की क्षमता नहीं रह गयी। इसी अर्थ में एक अन्य अभिधान 'साहित्यशास्त्र' का प्रयोग होने लगा, किन्तु यह भी शब्द उतना अधिक उपयुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि साहित्य एक शास्त्रविशेष न होकर विविध विचारधाराओं का एकीभूत रूप है। परिणामत: आधुनिक विद्वान् संस्कृत की रीतिकालीन विचारधारा को

---

१. वक्रोक्तिजीवित- १.३

२. यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते।
- प्रतापरुद्रीय की टीका-रत्नार्पण पृ० ३।

साहित्यशास्त्र या अलङ्कारशास्त्र के नाम से अभिहित न करके काव्यशास्त्र नाम से अभिहित करना अधिक उपयुक्त मानते हैं।

संस्कृत-साहित्य के काव्य या कविता की विविधि-व्यवस्थाओं का विवेचन (समीक्षण) करने वाला शास्त्र ही काव्यशास्त्र है। इसमें काव्य का स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, प्रवृत्ति और उसकी विविध समस्याओं और विचारान्तर का वैज्ञानिक निरूपण दृष्टिगोचर होता है। कविता की विविध पद्धतियों की समीक्षा और उसकी मूल-प्रवृत्तियों का निरूपण करना काव्यशास्त्र का प्रमुख विषय है। संस्कृतसाहित्य की समालोचना के क्षेत्र में सर्वथा नवीन पद्धति को जन्म देने के कारण काव्यशास्त्र का अपना मौलिक महत्त्व है।

काव्यशास्त्र की प्राचीन-परम्परा

काव्यशास्त्र की परम्परा के प्रवर्तन का निश्चित समय निर्धारित करना अत्यधिक कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि कविता के उदय के साथ ही काव्यशास्त्र का भी उदय हुआ। भारतीय कविता का सर्वप्राचीन स्रोत ऋग्वेद है। ऋग्वेद के उषस् सूक्त में उपमायोजना[१] और अतिशयोक्ति[२] का सुन्दर निदर्शन प्राप्त होता है। उपनिषदों में रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण दर्शनीय हैं[३]।

यास्क के निरुक्त में काव्यशास्त्र-विषयक कुछ तथ्यों का निरूपण दृष्टिगोचर होता है; इसमें भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा तथा रूपक इत्यादि अलङ्कारों से सम्बन्धित कुछ मौलिक तथ्यों का उल्लेख प्राप्त होता है[४]। यास्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य द्वारा निर्धारित उपमा के लक्षण को अपने निरुक्त में उद्धृत किया है[५]। यास्क के इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि यास्क (ई० पू० ७००) से पहले ही अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण पर विचार किया जाना प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार काव्यशास्त्र-विषयक तथ्यों पर विचार करने तथा उसके लेखन की परम्परा यास्क से पहले ही प्रारम्भ हो गयी थी। सोमेश्वरकृत साहित्यकल्पद्रुम के यथासङ्ख्यालङ्कार प्रकरण में भागुरि आचार्य के काव्यशास्त्र-विषयक मत का उद्धरण प्राप्त होता है[६]। इसी प्रकार ध्वन्यालोकलोचन

---

१. ऋग्वेद १.१२४.७
२. ऋग्वेद १.१६४.२०
३. कठोपनिषद् १.३.३, श्वेताश्वरोपनिषद् ४.५. मुण्डकोपनिषद् ३.१.१ इत्यादि।
४. निरुक्त ३.१३,१८
५. अथात: उपमा यद्-तत् सदृशमिति गार्ग्य: (निरुक्त ३.१३)
६. साहित्यकल्पद्रुम: राजकीय पुस्तकालय मद्रास : हस्तलिपि सूची पत्र भाग१, खण्ड १-ए पृ० २८९५, ग्रन्थाङ्क २१२६

में भी भागुरि का रसविषयक मत उद्धृत है[१]। इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि भागुरि ने भी काव्यशास्त्र पर कोई ग्रन्थ लिखा था जिसके उद्धरण प्राप्त होते हैं; किन्तु ग्रन्थ अनुपलब्ध है। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार भागुरि वैयाकरण भी थे जो वायु, भारद्वाज, चाणक्य इत्यादि प्राचीन महर्षियों की श्रेणी में आते थे[२]। पाणिनि ने भी उपमा के उपमित, उपमान और सामान्य आदि धर्मों का निर्देश किया है[३]। इससे यह ज्ञात होता है कि पाणिनि (ई०पूर्व ५००) से पहले उपमा अलङ्कार पर चर्चा होती रही थी।

परम्परा की उत्पत्ति तथा उपलब्धि

काव्यशास्त्र की उपलब्ध परम्परा बीज भले ही वेदों तथा वेदाङ्गों में दृष्टिगोचर होते हैं; किन्तु उसका स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। भारतीय सभी शास्त्रकार अपने शास्त्र का सम्बन्ध किसी न किसी देवताविशेष से स्थापित करते हैं। काव्यशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है। राजशेखर ने काव्यशास्त्र की उत्पत्ति नटराज शिव से स्थापित किया है। उनके अनुसार शिव ने सर्वप्रथम ब्रह्मा को दीक्षित किया, तदुपरान्त ब्रह्मा ने अपने अठारह मानस शिष्यों को काव्यशास्त्र का उपदेश दिया। उन अठारह शिष्यों ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को अठारह अधिकरणों में विभक्त करके प्रत्येक अधिकरण पर अपना ग्रन्थ लिखा[४]। भरत ने नाट्यविषयक तथ्यों का उपदेश ब्रह्मा से माना है[५]। शारदातनय ने भगवान् शिव द्वारा रचित योगमाला नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। उनके अनुसार योगमाला संहिता में नटराज शिव ने विवस्वान् को ताण्डव, लास्य, नृत्त और नर्तन का उपदेश दिया था[६]। भावप्रकाशन के आरम्भ में अगस्त्य और नारद का नामोल्लेख किया गया है। सम्प्रति अगस्त्य का कोई ग्रन्थ अथवा कथन उपलब्ध नहीं होता। 'नारदसङ्गीत' बड़ौदा से प्रकाशित है। यह नारद के ही विलुप्त नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ का एक अंश हो सकता है।

सम्प्रति उपलब्ध भरत का नाट्यशास्त्र ही काव्यशास्त्रीय परम्परा का प्रथम ग्रन्थ है। उसमें सुवर्णनाभ और कुचुमार आदि प्राचीन काव्यशास्त्रीय आचार्यों के नामों का उल्लेख हुआ है, जिसकी पुष्टि वात्स्यायन के कामसूत्र से भी होती है। भरत का

---

१. ध्वन्यालोकलोचन:, तृतीय उद्योत, पृ० ३८६।

२. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ० ७०।

३. अष्टाध्यायी २.३.७२, २.१.५५, २.१.५६।

४. द्रष्टव्य: काव्यमीमांसा, प्रथम अध्याय

५. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय

६. भावप्रकाशन, प्रथम अधिकरण, पृ०-२

नाट्यशास्त्र सङ्गीत, अलङ्कार, छन्द आदि सभी ललित कलाओं का कोश है जो कालान्तर में भी विद्वानों द्वारा संशोधित, सङ्कलित और परिवर्धित होता गया। भामह ने मेधाविन् तथा दण्डी ने काश्यप, वररुचि, ब्रह्मदत्त और नन्दिकेश्वर इत्यादि काव्याचार्यों को काव्यादर्श में उद्धृत किया है जिनमें नान्दिकेश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य की कृति सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। ईसापूर्व प्रथम शताब्दी में ही काव्यशास्त्र और काव्य पर पर्याप्त ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। यद्यपि वे आज उपलब्ध नहीं है तथापि उनके उद्धरण अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। अग्निपुराण में प्रतिपादित काव्य-शैलियों, उनके भेद, अलङ्कार, रस, रीति, गुण, दोष, ध्वनि इत्यादि काव्यशास्त्रीय विषयों से अनुमान किया गया है कि अग्निपुराण ही काव्यशास्त्र का प्रथम ग्रन्थ है; किन्तु पुष्ट प्रमाणों से यह बहुत बाद की रचना सिद्ध हो चुका है। इसलिए भरत और नन्दिकेश्वर ही काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठापक आचार्य माने जाते हैं।

आचार्य भरत

भारतीय परम्परा नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत को मुनि पद से विभूषित करती है, और उन्हें पौराणिकयुगीन मानती है। इनका समय विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर ई० पू० द्वितीय शताब्दी से लेकर ई० पू० प्रथम सताब्दी तक निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। भरतमुनि का एकमात्र ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है। जैसा कि नाम से विदित होता है कि वह नाट्यविषयक लक्षण-ग्रन्थ है; किन्तु यह वस्तुतः समस्त कलाओं का विश्वकोष है। जैसा कि नाट्यशास्त्र में कहा गया है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन् न दृश्यते ॥

(नाट्यशास्त्र १.११६)

शारदातनय ने नाट्यशास्त्र के दो प्रकार के मूलपाठ का उल्लेख किया है- (१) बारह हजार श्लोकों वाला (२) छः हजार श्लोकों वाला (षट्साहस्री संहिता)—

एवं द्वादशसाहस्रं श्लोकैरेकं तदर्थतः ।
षड्भिः श्लोकसाहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य सङ्ग्रहः ॥ (भावप्रकाशन)

सम्प्रति नाट्यशास्त्र के दो संस्करण उपलब्ध होते हैं— (१) निर्णय सागर मुम्बई से प्रकाशित ३७ अध्याय वाला तथा (२) चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित ३६ अध्याय वाला। इनमें मुम्बई से प्रकाशित संस्करण की अपेक्षा चौखम्भा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित संस्करण अधिक प्रामाणिक है। अभिनवगुप्त के अनुसार यह षट्त्रिंशक भरतसूत्र नाम से अभिहित है।

षट्त्रिंशतात्मकजगद्गगनावभाससंविन्मरीचिचयचुम्बितबिम्बशोभम् ।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रं विवृण्वन् वन्दे शिवं श्रुतितदर्थं विवेकधाम ।।

(अभिनवभारती-२)

नाट्यशास्त्र का प्रतिपाद्य

नाट्यशास्त्र के नाट्योत्पत्ति नामक प्रथम अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति, मण्डपाध्याय नामक द्वितीय अध्याय में प्रेक्षागृह की रचना, रङ्गदैवतपूजन नामक तृतीय अध्याय में रङ्गदेवता की पूजा का विधान किया गया है। चतुर्थ अध्याय में ताण्डव-लक्षण, पञ्चम अध्याय में पूर्वरङ्ग, षष्ठ अध्याय में रस का विवेचन हुआ है। भावव्यञ्जक नामक सप्तम अध्याय में भावों, अङ्गाभिनय नामक अष्टम अध्याय में आङ्गिक अभिनयों, उपाङ्गाभिनय नामक नवम अध्याय में हाथ-पैर इत्यादि अङ्गों के अभिनयों, चारीविधान नामक दशम अध्याय में चारी (नृत्य की गति में भेद) तथा मण्डलविकल्प नामक एकादश अध्याय में नृत्यगति की व्यवस्था की गयी है। गतिप्रचार नामक द्वादश तथा कक्षा प्रवृत्तिधर्मी नामक त्रयोदश अध्याय में क्रमशः रङ्गभूमि में पात्रों के प्रवेश इत्यादि की विधियों और प्रवृत्तियों का विवेचन हुआ है । चतुर्दश और पञ्चदश अध्याय में प्रवेश इत्यादि की विधियों और प्रवृत्तियों का विवेचन हुआ है । षोडश अध्याय में नाट्य लक्षण, छन्द, अलङ्कार, सप्तदश में काकुस्वरविधान और भाषाओं का विवेचन, रूपकाध्याय नामक अष्टादश अध्याय में दशरूपकों तथा एकोनविंश और विंश अध्याय में कथावस्तु, सन्धियों, सन्ध्यङ्गों और भारती इत्यादि वृत्तियों के अङ्गों का वर्णन हुआ है। एकविंश में अभिनय और वेशभूषा इत्यादि, सामान्याभिनय नामक द्वाविंश अध्याय में हाव-भाव, प्रेम की दस अवस्थाओं और युवतियों के अलङ्कार इत्यादि पर विचार किया गया है। त्रयोविंश अध्याय में स्त्री की प्रवृति, चित्राभिनय नामक पञ्चविंश अध्याय में स्त्री की प्रकृति, चतुर्विंश अध्याय में नायक-नायिका भेद और चित्राभिनय नामक पञ्चविंश अध्याय में अभिनय-विषयक निर्देश और नाट्योक्ति का विवेचन हुआ है । षड्विंश तथा सप्तविंश अध्याय में नाट्यप्रयोग, अष्टाविंश में आतोद्य प्रयोग, एकनत्रिंश में आतोद्यविधान, त्रिंश मं आतोद्य का स्वरूप, एकत्रिंश और द्वात्रिंश में ताल और लय, त्रयोत्रिंश में गायक-वादक के गुण-दोष चतुःत्रिंश में मृदङ्ग इत्यादि वाद्य-यन्त्रों का विवेचन हुआ है। भूमिकापात्र विकल्पाध्याय नाम पञ्चत्रिंश अध्याय में नाट्य मण्डली की विशेषता, सूत्रधार, विट्, विदूषक इत्यादि का वर्णन हुआ है। षट्त्रिंश अध्याय में दो आख्यानों के साथ नाट्यावतार का विवेचन हुआ है। सप्तत्रिंश वाले संस्करण में इस अध्याय के अन्तर्गत नहुष-विषयक द्वितीय आख्यान का वर्णन हुआ है।

भरत से पूर्ववर्ती आचार्य

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में शिलालि और कृशाश्व के नाट्यशास्त्र (नटसूत्र) का उल्लेख किया है— "पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः, कर्मन्दकृशाश्वादीनि" (पा० अ० ४.३.११०-१११)। हिलेब्राण्ड के अनुसार भारतीय नाट्यसाहित्य की ये प्राचीनतम कृति होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र के अन्त में अपने पूर्ववर्ती कोहल, वात्स्य, शाण्डिल्य और धूर्त्तिल— इन चार आचार्यों का नामोल्लेख किया है—

कोहलादिभिरेतैर्वा वात्स्यशाण्डिल्यधूर्तिलैः ।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तं तु नराणां बुद्धिवर्धनम् ॥

अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की व्याख्या में अनेक बार कोहल के मतों को निर्दिष्ट किया है तथा सङ्गीताध्याय की व्याख्या तथा अन्य अध्यायों की व्याख्या में दत्तिल के मत का उल्लेख किया है; किन्तु वात्स्य और शाण्डिल्य के मत को कहीं भी निर्दिष्ट नहीं किया है। नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरत के सौ पुत्रों (शिष्यों) में कोहल इत्यादि चारों आचार्यों के अतिरिक्त नखकुट्ट और अश्मकुट्ट का भी नामोल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त भरत के पुत्रों में बादरायण का भी नाम आया है जिनको सागरनन्दी ने बादरायण या बादरि नाम से निर्दिष्ट किया है। शातकर्णी का भी नाम भरत के पुत्रों में उल्लिखित है। नाट्यशास्त्र में सङ्गीतविषयक विवेचन में तुम्बुरु का भी नाम आया है।

नाट्यशास्त्र के टीकाकार

नाट्यशास्त्र पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं; किन्तु वे सभी उपलब्ध नहीं होतीं। कुछ टीकाओं अथवा टीकाकारों के नामों का उल्लेख ही प्राप्त होता है जिनके आधार पर हम उन्हें नाट्यशास्त्र के टीकाकार के रूप में जान पाते हैं। इनमें से भरतटीका, हर्षकृत वार्त्तिक, शाक्याचार्य राहुलकृत कारिकाएँ, मातृगुप्तकृत टीका का हमें नाम या सङ्केत ही मिलता है। इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने अपने 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की व्याख्या में भट्टलोल्लट, शङ्कुक और भट्टनायक के मतों की समालोचना करके अपने मत को पुष्ट किया है।

मातृगुप्त

सुन्दर मिश्र ने अपने नाट्यप्रदीप नामक ग्रन्थ (रचनाकाल १६९३ ई०) में नान्दी विषयक भरत के कथन की टीका करते हुए कहा है– 'अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्यैः इदमुदाहृता'। राघवभट्ट ने अभिज्ञानशाकुन्तल और वासुदेव ने कर्पूरमञ्जरी की टीका में

नाट्यविद्या के आचार्य के रूप में मातृगुप्त का उल्लेख किया है। कल्हड़ ने राजतरङ्गिणी में भी राजा और कवि के रूप में इनका उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने सङ्गीतविषयक तथा शारदातनय ने नाट्यवस्तु-विषयक इनके मत को निर्दिष्ट किया है। सागरनन्दी ने अपनी प्रस्तुत नाट्यलक्षणरत्नकोश में इनके कई श्लोकों तथा शार्ङ्गदेव ने सङ्गीत के प्रमाणभूत आचार्य के रूप में इन्हें उद्धृत किया है।

उद्भट

शार्ङ्गदेव ने अपने सङ्गीतरत्नाकर में भरत के नाट्यशास्त्र के एक प्राचीन टीकाकार के रूप में उद्भट का नामोल्लेख किया है। अभिनवगुप्त द्वारा उद्भट के अनेक मतों के उल्लेख से शार्ङ्गदेव का उद्भट के टीकाकार होने का मत पुष्ट भी हो जाता है; किन्तु अभी तक टीका प्राप्त नहीं हुई है। अभिनवगुप्त ने वृत्ति के सन्दर्भ में उद्भट की तीन वृत्तियों को ही स्वीकार करने का उल्लेख किया है, भरत के समान चार वृत्तियों का नहीं। उन्होंने सम्पूर्ण नाट्यशास्त्र पर टीका लिखा था या नाट्यविद्या के कुछ ही प्रकरणों पर- यह स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं हो पाता। आचार्य उद्भट प्रथम कोटि के काव्यशास्त्री थे। उनकी स्थापनाओं को आनन्दवर्धन[१], अभिनवगुप्त[२], राजशेखर[३], मम्मट[४] औद रुय्यक जैसे आचार्यों ने प्रामाणिक मानकर उद्धृत किया है। उद्भट का प्रमुख ग्रन्थ काव्यालङ्कार-सारसंग्रह है जिसको बूलर ने राजस्थान जैसलमेर से प्राप्त किया था। इस पर प्रति-हारेन्दुराज की टीका भी है[५]। इसके अतिरिक्त इस पर राजानक तिलक की उद्भटविवेक[६] और अज्ञात नाम वाले टीकाकार की उद्भटालङ्कारवृति[७] नामक टीका है। इस प्रकार उद्भट अलङ्कारवादी सम्प्रदाय के आचार्य प्रतीत होते हैं।

भट्टलोल्लट

भट्टलोल्लट कश्मीरी पण्डित थे। अभिनवगुप्त ने अपनी टीका में रससूत्र की टीका के साथ ही साथ द्वादश, त्रयोदश, अष्टादश तथा एकविंश अध्यायों की टींका में

---

१. ध्वन्यालोकवृत्ति, पृ०-१०८

२. ध्वन्यालोकलोचन, पृ०-१०

३. काव्यमीमांसा, पृ०-४०

४. काव्यप्रकाश, नवम उल्लास, श्लेषप्रकरण

५. निर्णयसागर से प्रकाशित

६. अलङ्कारसर्वस्व निर्णय सागर प्रेस, संस्करण पृ०-११५-२०५

७. ओरियन्टल रीसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से प्रकाशित

भट्टलोल्लट का पर्याप्त उल्लेख किया है। भट्टलोल्लट के समय के विषय में कोई पुष्ट प्रमाण नहीं उपलब्ध है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि ये शङ्कुक से पूर्ववर्ती थे; क्योंकि शङ्कुक ने भट्टलोल्लट के रससिद्धान्त का प्रत्यक्षतः खण्डन किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार लोल्लट ने उद्भट के मत का विरोध किया था। इससे स्पष्ट है कि लोल्लट उद्भट से परवर्ती या समकालीन थे। इस प्रकार लोल्लट को उद्भट तथा शङ्कुक के मध्य में होना चाहिए। विद्वानों के अनुसार इनका समय नवीं शताब्दी है। नाट्यशास्त्र पर की गयी इनकी भी टीका उपलब्ध नहीं है।

सर्वप्रथम लोल्लट ने ही रससूत्र की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत किया और 'संयोगात्' से कार्य-कारणरूप भावसम्बन्ध को ही काव्यार्थ का साधन स्वीकार किया। मीमांसक होने के कारण अभिधा को ही समस्त काव्यार्थ का साधन स्वीकार करते थे। इनके अनुसार शब्द की प्रतीति उसी प्रकार होती है जैसे कोई बाण अकेले ही कवच को भेदकर शरीर में प्रवेश करके प्राणों को हर लेता है– 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-व्यापारः' (काव्यप्रकाश)।

शङ्कुक

अभिनवगुप्त ने नाट्यविद्या के विभिन्न विषयों पर शङ्कुक के मतों को अनेक स्थलों पर निर्दिष्ट किया है। कल्हड़ की राजतरङ्गिणी में कश्मीर के शासक अजितापीड (८१३ ई०) के आश्रित पण्डितों में शङ्कुक का उल्लेख हुआ है। उन्होंने भी भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका लिखा है। शार्ङ्गधरपद्धति और सूक्तिमुक्तावली के अनुसार ये मयूर के पुत्र थे। हर्ष के आश्रित मयूर का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। अतः इन्हें सातवी शताब्दी के उत्तरार्ध में होना चाहिए किन्तु कतिपय विद्वानों ने इस पर आपत्ति करके राजतरङ्गिणी के आधार पर इनका समय नवीं शती माना है।

रससूत्र पर की गयी इनकी व्याख्या अनुमितिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने भट्टलोल्लट के मत की समालोचना करके अपने मत को प्रतिष्ठापित किया है। इनके अनुसार रस अनुमिति-गम्य है। विभावादि साधन तथा रस साध्य है। इनमें अनुमाप्य और अनुमापक-भाव सम्बन्ध है। चित्रतुरगन्याय से रस के अनुमान द्वारा सामाजिकों को रसानुभूति होती है।

भट्टनायक

भट्टनायक कश्मीर के शासक शङ्करवर्मन् (८८३ से ९०२ ई. तक) के समकालीन थे। अतः इनका समय अभिनवगुप्त से कुछ ही पूर्व रहा होगा। भट्टनायक भट्टलोल्लट के अभिव्यक्तिवाद और शङ्कुक के प्रतीतिवाद (अनुमितिवाद) के सिद्धान्तों का खण्डन

किया है। ये ध्वनि-विरोधी आचार्य थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' में ध्वन्यालोक के सिद्धान्तों का खण्डन है जो सम्प्रति अनुपलब्ध है। भट्टलोल्लट और शङ्कुक की भाँति ये भी अभिधावादी थे; किन्तु इन्होंने इनके अतिरिक्त दो और शब्दशक्तियों को माना है— (१) भावकत्व और भोजकत्व। भरत के रस के विषय में इनका सिद्धान्त भुक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने संयोगात् का अर्थ भाव्य-भावकसम्बन्ध और निष्पत्ति का तात्पर्य भुक्ति अर्थात् आस्वाद्य स्वीकार किया है। इसके अनुसार रस की निष्पत्ति सहृदय में होती है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त ने अपने ग्रन्थों में अपना परिचय विस्तार से दिया है। इसके अनुसार इनके पूर्वज कन्नौज के निवासी थे। अभिनवगुप्त से लगभग २०० पूर्व इनके पूर्वज अत्रिगुप्त कन्नौज से कश्मीर में जाकर बस गये थे। वस्तुत: इसके पीछे एक इतिहास है। तत्कालीन कश्मीरनरेश ललितादित्य (७२५-७७१ ई०) ने कन्नौज के राजा यशोवर्मन् ७३०-७४० ई० पर आक्रमण करके उन्हें पराजित कर दिया। विद्वान् अत्रिगुप्त की विद्वत्ता से प्रभावित होकर लालितादित्य ने उन्हें कश्मीर बुलाया वहीं बसाया और जीविकोपार्जन-हेतु विस्तृत भू-सम्पत्ति भी प्रदान किया।

इसी वंश में पैदा हुए पितामह वराहगुप्त के पुत्र नृसिंह गुप्त जो चुलुखक नाम से पुकारे जाते थे, अभिनवगुप्त के पिता थे। इनके पिता ही नहीं सम्पूर्ण वंश ही विद्वदग्रगण्य था। इनकी माँ बाल्यावस्था में ही दिवङ्गत हो गयी। माँ के अभाव में अभिनवगुप्त का जीवन वात्सल्यपूर्ण प्यार से रहित, शुष्क, नीरस और वेदनापूर्ण हो गया। पत्नी के वियोग में इनके पिताजी कुछ दिनों बाद विरक्त होकर वैराग्य ले लिए। माँ-बाप के आश्रय में तो इनका जीवन सुखी और सरस था। अत: अभिनवगुप्त ने सरस साहित्य का अध्ययन किया; किन्तु इनका अभाव हो जाने पर उनका समस्त स्नेहस्रोत सूख गया, साहित्य से रुचि समाप्त हो गयी और शिव की भक्ति ने सरस हृदय में स्थान बना लिया।

अभिनवगुप्त के ग्रन्थों की संख्या ४१ है। इनमें से ११ कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। मुख्यरूप से आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक पर लोचन तथा नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती नामक टीका साहित्य-जगत् में विशेष पसिद्ध है। ये ध्वनि-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य माने जाते हैं। इन्होंने तन्त्रशास्त्र और शैवागम पर भी ग्रन्थ लिखा है।

रससूत्र के व्याख्यान में इनका मत अभिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्ध है। इनके अनुसार संयोगात् का अर्थ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूपात् है और निष्पत्ति शब्द का अर्थ अभिव्यक्ति है। रस की स्थिति सहृदय में होती है।

भरत से परवर्ती आचार्य

नन्दिकेश्वर

अभिनयदर्पण आचार्य नन्दिकेश्वर की रचना है। कतिपय विद्वान् नन्दिकेश्वर को भरत से पूर्ववर्ती मानते हैं तथा इन्हीं की प्रेरणा से भरतमुनि द्वारा नाट्यशास्त्र लिखे जाने की कल्पना करते हैं। कुछ लोग इन्हें भरत से अभिन्न मानते हैं; किन्तु नाट्यशास्त्र के कर्त्ता भरत और अभिनयदर्पण के कर्त्ता नन्दिकेश्वर दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। काव्यमीमांसा में नन्दिकेश्वर को रसविषयक आचार्य के रूप में[१] तथा सङ्गीतरत्नाकर में[२] सङ्गीत के आचार्य के रूप में याद किया गया है। सङ्गीत के प्रसङ्ग में मतङ्ग ने नन्दिकेश्वर को उद्धृत किया है। मतङ्ग चतुर्थ शती के आचार्य हैं। अत: नन्दिकेश्वर को मतङ्ग से पूर्ववर्ती होने के कारण तृतीय शताब्दी में होना चाहिए। अभिनयदर्पण में ३८२ श्लोक है। इसमें नाट्य की अभिनय-विधा का विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है। अभिनय की दृष्टि से नाट्य के तीन भेदों नाट्य, नृत्त और नृत्य का वर्णन करते हुए उनके प्रयोग के समय को भी बतलाया गया है। नन्दिकेश्वर ने नाट्य के छ: तत्त्व बतलाएँ हैं— नृत्य, गीत, अभिनय, भाव, रस और ताल। इन तत्त्वों में प्रमुख तत्त्व अभिनय के आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक तथा उनके भेदोपभेदों के अतिरिक्त शिर, ग्रीवा, दृष्टि, हस्त और पाद से सम्बन्धित अभिनय का अतिविस्तृत विवेचन हुआ है। अभिनयदर्पण में अभिनय से सम्बन्धित विषयों का सविस्तार विवेचन हुआ है।

इसके अतिरिक्त रतिरहस्य और पञ्चसायकग्रन्थ में इन्हें कामशास्त्र का आचार्य स्वीकार किया गया है[३]। नन्दिकेश्वर के नाम से योगतारावली, नन्दिकेश्वरतिलक, प्रभाकरविजय और लिङ्गधारणचन्द्रिका इत्यादि परस्पर विरोधी सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक ग्रन्थ उपलब्ध है; किन्तु सभी के कर्त्ता एक ही नन्दिकेश्वर थे- इसमें सन्देह है।

दण्डी

इनका विस्तृत परिचय इसी ग्रन्थ की भूमिका में अग्रवर्णित है।

भामह

आचार्य भामह अलङ्कारशास्त्र के आद्य आचार्य माने जाते थे; किन्तु अब यह स्थान

१. रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, काव्यमीमांसा १.१

२. सङ्गीतरत्नाकर १.१६-१७

३. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्यशास्त्र का इतिहास, भाग-१ पृ०-१३

आचार्य दण्डी को प्राप्त हो गया है। भरत के पश्चात् दण्डी तक के मध्य लगभग एक हजार वर्षों नक का काव्यशास्त्रीय कार्य अन्धकारमय है; किन्तु दण्डी के काव्यादर्श के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इस कालान्तराल में भी काव्यशास्त्र-विषयक कार्य होते रहें जो दण्डी से सम्मुख उपलब्ध थे जिनकी आलोचना दण्डी ने किया है। भामह दण्डी से परवर्ती आचार्य हैं। भरत ने चार प्रकार के अभिनयों में से वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में अलङ्कारशास्त्र का सन्निवेश किया है। भामह ने अलङ्कारशास्त्र को नाट्यशास्त्र से पृथक् करके स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठापित किया। सम्प्रति भामह का काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ काव्यालङ्कार प्राप्त होता है, जो अलङ्कारशास्त्र का ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ आचार्यों में बहुत प्रिय रहा है; क्योंकि भामह से परवर्ती अनेक आचार्यों उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट ने प्रमाण स्वरूप अपने ग्रन्थों में इसका उद्धरण दिया है। नारायणभट्ट ने भामह के नाम से कुछ नवीन छन्दों को उद्धृत किया है, जिनसे स्पष्ट होता है कि भामह ने कोई छन्दशास्त्र-विषयक ग्रन्थ भी लिखा था जो सम्प्रति अनुपलब्ध है[१]।

भामह के पिता का नाम रक्रिलगोभि था। सम्भवतः ये कश्मीरी पण्डित थे। कतिपय विद्वानों के अनुसार ये बौद्धधर्मावलम्बी तथा कुछ के अनुसार वैदिक धर्मानुयायी थे। इनके स्थितिकाल की परवर्ती सीमा ७०० ई० है।

वामन

वामन रीतिसम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' के कथन द्वारा इन्होंने रीति-सिद्धान्त को परिपुष्ट बनाया। वामन ने भामह और दण्डी द्वारा प्रतिपादित वैदर्भ और गौडीय मार्ग के अतिरिक्त पाञ्चाली रीति को भी स्वीकार किया। इनके अनुसार गुण और अलङ्कार दोनों काव्य के शोभाधायक तत्त्व हैं। अलङ्कारजगत् में स्वीकृत दश गुणों के स्थान पर दश शब्दगुण और दश अर्थगुण· इस प्रकार बीस गुणों की उद्भावना किया है। इनके अनुसार उपमा ही प्रमुख अलङ्कार है, शेष अलङ्कार तो उपमा से ही प्रपञ्चित हैं। भामह और दण्डी द्वारा स्वीकृत मुख्य आधार वाले वक्रोक्ति अलङ्कार को उन्होंने अर्थालङ्कार माना है। वामन काव्य में रस की सत्ता के विशेष पक्षपाती है। अलङ्कार सम्प्रदाय में रस केवल बाह्यसाधन के रूप में माना जाता है; किन्तु वामन ने रस को कान्ति गुण के रूप में स्वीकृत करके काव्य में रस की अधिक व्यापकता, अधिक स्थायिता और अधिक उपादेयता प्रदान किया।

---

१. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, प्रथम भाग पृ०-११४-१३०

भवभूति (७००-७५०) के एक पद्य 'इयं गेहे' (उत्तररामचरित १.३८) को वामन ने रूपक अलङ्कार के उदाहरण में प्रस्तुत किया है। इससे स्पष्ट है कि वामन भवभूति से परवर्ती है। काव्यमीमांसा में राजशेखर (९२० ई०) ने वामन सम्पदाय के अन्तर्भुक्त आलङ्कारिकों का उल्लेख 'वामनीयाः' शब्द से किया है। इससे यह भी स्पष्ट है कि वामन राजशेखर से पूर्ववर्ती हैं। इस प्रकार वामन का काल ७५०-८५० ई० के मध्य में होना चाहिए।

रुद्रट

रुद्रट अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में अत्यधिक प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय है। इन्होंने ही सर्वप्रथम अलङ्कारों का वैज्ञानिक श्रेणीविभाग कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर किया। रुद्रट की एक मात्र रचना काव्यालङ्कार है जो विषय की दृष्टि से बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत ग्रन्थ है। इसमें अलङ्कारशास्त्र के समस्त तत्त्वों का विशिष्ट निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ पर तीन टीकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है– (१) वल्लभदेव की टीका रुद्रटालङ्कार, जो अनुपलब्ध है। (२) नेमिसाधुकृत टीका उपलब्ध तथा प्रकाशित है और (३) तीसरी टीका जैनयति आशाधरकृत है।

आनन्दवर्धन

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आनन्दवर्धन का नाम ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध है। कश्मीरपण्डित-परम्पंरा में राजानक की उपाधि प्राप्त थी। राजतरङ्गिणी के अनुसार ये राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के शासनकाल में हुए थे। इस प्रकार इनका समय नवम शताब्दी का मध्य या उत्तरार्ध प्रतोत होता है। आनन्दवर्धन का प्रमुख ग्रन्थ ध्वन्यालोकवृत्ति है। इस वृत्तियों में उन्होंने स्वलिखित 'अर्जुनचरित' और 'विषयबाण' इत्यादि ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनका 'देवशतक' प्रकाशित है। धर्मकीर्ति के 'प्रमाणविनिश्चय' पर भी इन्होंने एक टीका लिखा था।

ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं— (१) कारिका (२) गद्यमयी वृत्ति तथा (३) उदाहरण। कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की रचना है या भिन्न-भिन्न लोगों की– यह विषय विवादास्पद है। अभिनवगुप्त ने वृत्तिभाग को कारिका से अलग माना है और वृत्तिकार के लिए ग्रन्थकृत तथा कारिका के लिए मूलग्रन्थकृत् शब्दों का प्रयोग किया है। इसी आधार पर कारिकाकार और वृत्तिकार को अलग-अलग माना जाता है। वृत्तिकार तो आनन्दवर्धन है; किन्तु कारिकाकार का नाम अज्ञात है कुछ विद्वानों ने कारिका और वृत्ति दोनों को समभावेन आनन्दवर्धनकृत ही माना है।

राजशेखर

यद्यपि राजशेखर का नाम महनीय नाटककार के रूप में ही प्रसिद्ध था; किन्तु इनका एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ 'काव्यमीमांसा' भी प्राप्त हुआ है जिससे राजशेखर काव्यशास्त्रीय आचार्यों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हो गये हैं। काव्यमीमांसा के अतिरिक्त इन्होंने 'बालरामायण', बालभारत, कर्पूरमञ्जरी, विशालभञ्जिका नाटक तथा हरिविलास और भुवनकोश की रचना किया था। इनके अन्तिम दो ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। इनके नाटकों से ज्ञात होता है कि ये कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल के उपाध्याय और उनके पुत्र महीपाल के भी कृपापात्र थे। महीपाल का समय ९१७ ई० है। इस प्रकार ये नवम शताब्दी के उत्तरार्ध या दशम शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे। इनका वंश यायावरीय था। ये महाराष्ट्र-चूडामणि अकाल जलद के प्रपौत्र तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। इनकी पत्नी चौहानवंशीय 'अवन्तिसुन्दरी' थी जो संस्कृत और प्राकृत की अत्यन्त विदुषी महिला थी। अपनी पत्नी के अलङ्कारशास्त्र-विषयक मौलिक सिद्धान्तों को उन्होंने अपनी काव्यमीमांसा में स्थल-स्थल पर उल्लिखित किया है।

धनञ्जय

धनञ्जय का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ दशरूपक है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें रूपक के दश भेदों का निरूपण हुआ है। धनञ्जय ने दशरूपक की ४.८६ कारिका में दशरूप नाम का निर्देश किया है। धनिकं ने इस पर की गयी अपनी टीका का नाम दशरूपावलोक रखा है। इससे यह प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का अपर नाम दशरूप भी है। यह ग्रन्थ चार प्रकाशों में विभक्त है। प्रथम प्रकाश में कथावस्तु और सन्धियों का निरूपण हुआ है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका भेद, नायिकाओं के अलङ्कार और नाट्यवृत्तियों का विवेचन है। तृतीय प्रकाश में रूपक के दश भेदों तथा चतुर्थ प्रकाश में रसों का वर्णन है।

ये भरत मुनि की परम्परा के आचार्य थे। इनके पिता का नाम विष्णु था तथा ये परमारवंशीय राजा मुञ्ज के सभापण्डित थे– इनका उल्लेख धनञ्जय ने स्वयं दशरूपक में किया है—

> विष्णोः सुतेन धनञ्जयेन विद्वद्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
> आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥
>
> (दशरूपक ४.८६)

मुञ्जराज एक महान् योद्धा तथा कवि थे। इसी कारण वे वाक्पतिराज, उत्पलराज, अमोघवर्ण, पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ इत्यादि उपाधियों से विभूषित थे। मुञ्ज के भतीजे

भोजराज ने स्वयं शृङ्गारप्रकाश और सरस्वतीकण्ठाभरण इत्यादि ग्रन्थों की रचना किया है। बुहलर के अनुसार मुञ्ज अपने पिता सीयक की मृत्यु के पश्चात् ९७५ ई० में राजगद्दी पर बैठे और ९९५ ई० में तक शासन किया। इण्डियन एन्टीक्वेरी के अनुसार उस चालुक्य राजा तैलप द्वितीय ने मुञ्ज को हरा दिया, जिसकी मृत्यु ९९७-९९८ ई० में हुई। अत: मुञ्ज का समय ९७४ से ९९५ माना गया है। इस प्रकार धनञ्जय का भी समय दसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही निश्चित होता है।

धनिक

दशरूपक पर धनिककृत दशरूपावलोक नामक टीका है। धनञ्जय ने मात्र सौ कारिकाओं वाले दशरूपक में अत्यन्त संक्षेप में नाट्यशास्त्रीय तथ्यों का प्रतिपादन किया था। धनिक की अवलोक टीका से ही धनञ्जय का दशरूपक अवलोकित हुआ। अवलोक टीका से ज्ञात होता है कि ये विष्णु के पुत्र थे। इस प्रकार ये धनञ्जय के छोटे भाई थे। कुछ विद्वानों के अनुसार दशरूपक की कारिका और वृत्तिभाग का कर्त्ता एक ही व्यक्ति है; किन्तु अधिकांश विद्वानों ने दोनों के कर्त्ता को अलग-अलग माना हैं, क्योंकि अनेक स्थलों पर कारिकाओं और वृत्तिभाग में मतभेद दृष्टिगोचर होता है। धनिक के जीवनवृत्त के विषय में कोई तथ्य नहीं प्राप्त होता। हाल के अनुसार उत्पलराज के यहाँ ये महासाध्यतपाल थे। ये उत्पलराज कोई अन्य नहीं, मुञ्ज ही थे। धनिक ने नवसाहसाङ्कचरित का श्लोक दशरूपक की २.४० की टीका में उद्धृत किया है जिसकी रचना सिन्धुराज के समय में हुई थी। सिन्धुराज ने मुञ्ज के बाद शासनभार सभाला था। इस प्रकार स्पष्ट है कि धनिक अपने भाई धनञ्जय के साथ मुञ्ज की सभा में थे। तदनन्तर सिन्धुराज के शासनकाल में अवलोक टीका का प्रणयन किया। अवलोक के अतिरिक्त धनिक ने काव्यनिर्णय नामक ग्रन्थ लिखा था जिसकी सात कारिकाओं को अपने मत की पुष्टि के लिए अवलोक टीका में उद्धृत किया है। अवलोक में धनिक ने कुछ स्वरचित श्लोकों को भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जिससे उनकी कवित्व प्रतिभा भी द्योतित होती है।

कुन्तक

कुन्तक वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। इसीलिए ये काव्यशास्त्र के क्षेत्र में वक्रोक्ति जीवितकार के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' नाम से उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ अधूरा प्राप्त हुआ है; किन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ग्रन्थ की मौलिकता और सूक्ष्म विवेचन शैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। यह ग्रन्थ चार अध्यायों या उन्मेषों में विभक्त है जिसमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का साङ्गोपाङ्ग

विवेचन किया गया है। इसमें दो उन्मेष पूर्ण तथा दो अन्तिम उन्मेष अधूरे प्राप्त हैं। यद्यपि वक्रोक्ति की कल्पना भामह ने ही की थी, किन्तु इसको व्यापक साहित्यिक तत्त्व के रूप में विकसित करने का श्रेय कुन्तक को है। इस ग्रन्थ के तीन भाग है– कारिका, वृत्ति और उदाहरण। इसमें कारिका और वृत्ति कुन्तक की है तथा उदाहरण संस्कृत-साहित्य की प्रसिद्ध रचनाओं से लिये गये हैं। इसके प्रथम उन्मेष नें काव्य का प्रयोजन, साहित्य की कल्पना तथा वक्रोक्ति का लक्षण निरूपित किया गया है। द्वितीय उन्मेष में वक्रोक्ति के प्रकार– वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता और प्रत्ययवक्रता का विवेचन हुआ है। तृतीय उन्मेष में वाक्य वक्रता के अन्तर्गत अलङ्कारों को समाहित किया गया है। चतुर्थ उन्मेष में प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का निरूपण हुआ है।

कुन्तक आनन्दवर्धन के ग्रन्थ तथा सिद्धान्त से परिचित थे। राजशेखर के ग्रन्थ के उद्धरण वक्रोक्तिजीवित में अनेक बार उल्लिखित है। इससे स्पष्ट होता है कि ये राजशेखर से उत्तरवर्ती हैं। महिमभट्ट (ग्यारहवीं शताब्दी) में कुन्तक के सिद्धान्त का बहुत खण्डन किया है। इस प्रकार ये महिमभट्ट से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। अतः कुन्तक का समय दसवीं शताब्दी का अन्त तथा ग्यारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना उचित प्रतीत होता है।

महिमभट्ट

महिमभट्ट ध्वनि-सम्प्रदाय के विरोधी आचार्य थे। इनके ग्रन्थ व्यक्ति-विवेक में ध्वनि-सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। 'व्यक्तिविवेक' के उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने तत्त्वोक्तिकोष नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी जो आज उपलब्ध नहीं है। व्यक्तिविवेक तीन विमर्शों में विभक्त है। प्रथम विमर्श में व्यञ्जना का खण्डन किया गया है। द्वितीय विमर्श में अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष कहकर उसके विभिन्न प्रकारों का विवेचन किया गया है। तृतीय विमर्श में ध्वन्यालोक के ध्वनिस्थापन का खण्डन किया गया है। व्यक्तिविवेक की एक अधूरी टीका प्राप्त है जो अनन्तशयन ग्रन्थमाला से प्रकाशित है। आनन्दवर्धन से परवर्ती तथा क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती लगभग ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्य हैं।

क्षेमेन्द्र

क्षेमेन्द्र काव्यशास्त्र-जगत् में औचित्यविषयक कल्पना के कारण प्रख्यात हैं। ये सर्वतोमुखी प्रतिभा के आचार्य थे। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में औचित्यविचारचर्चा; और कविकण्ठाभरण नामक दो ग्रन्थ हैं। दोनों ग्रन्थ प्रकाशित है। इन्होंने शिशुवंश, दशावतार-

चरित, बृहत्कथामञ्जरी, भारतमञ्जरी, रामायणमञ्जरी अनेक स्तोत्रग्रन्थ तथा नाटक, कोश और नीति पर भी कई ग्रन्थ लिखा था। ये कश्मीर के निवासी थे। इनके पितामह का नाम सिन्धु और पिता का नाम प्रकाशेन्द्र था। ये पहले शैवानुयायी थे किन्तु जीवन के अन्तिम काल में वैष्णव हो गये। प्रसद्धि काव्यशास्त्री अभिनवगुप्त इनके काव्यगुरु थे। कश्मीर के राजा अनन्तराज (१०२८ से १०८० ई०) के सभापण्डित थे अत: अनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य काल है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कविकर्णिका नामक ग्रन्थ भी साहित्य-शास्त्र का ग्रन्थ था जो उपलब्ध नहीं है।

भोजराज

भोजराज राजा होने के साथ-साथ प्रकाण्ड पण्डित भी थे। इन्होंने काव्यशास्त्र-विषयक सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश नामक दो ग्रन्थ लिखा है। सरस्वती-कण्ठाभरण प्रकाशित है। सरस्वतीकण्ठाभरण पर रत्नेश्वर की टीका भी है जो प्रकाशित है। सरस्वतीकण्ठाभरण पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में दोष और गुण, दूसरे परिच्छेद में शब्दालङ्कार, तृतीय परिच्छेद में अर्थालङ्कार, चतुर्थ परिच्छेद में उभया-लङ्कार और पञ्चम परिच्छेद में रस, भाव, पञ्च- सन्धियों तथा चारों वृत्तियों का निरूपण हुआ है। शृङ्गारप्रकाश पूर्णत: प्राप्त है किन्तु पूरा प्रकाशित नहीं है। यह काव्यशास्त्र का सबसे बड़ा ग्रन्थ है जो छत्तीस प्रकाशों में विभक्त है। इसके प्रथम आठ प्रकाशों में शब्द और अर्थ से सम्बन्धित वैयाकरण-सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। नवम और दशम प्रकाश में गुण और दोष, एकादश और द्वादश में महाकाव्य और नाटक तथा अन्तिम चौबीस प्रकाशों में रस का साङ्गोपाङ्ग सोदाहरण विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्र का एक प्रकार से विश्वकोश है।

भोजराज मुञ्ज के पश्चात् राज्य करने वाले नवशाहसाङ्क उपाधि वाले सिन्धुराज या सिन्धुल के पुत्र थे। ये परमारवंशीय धारा नगरी के शासक थे। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का पूवार्ध है।

मम्मट

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मम्मट द्वारा लिखित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यप्रकाश अत्यधिक समादरित है। अलङ्कार-जगत् में निर्धारित सभी सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराते हुए काव्य के स्वरूप तथा उसके अङ्गों का यथावत् विवेचन मम्मट ने अपने ग्रन्थ में किया है। ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना के बाद भट्टनायक और महिमभट्ट के ध्वनिसिद्धान्त-विरोधी युक्तियों का खण्डन करके मम्मट ने ध्वनिसिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया है। इस कारण इन्हें ध्वनिप्रतिष्ठाकपरमाचार्य की उपाधि से इन्हें विभूषित किया गया है। मम्मट

का एक और छोटा-सा ग्रन्थ 'शब्दविचार-व्यापार' भी प्रकाशित है जिसमें शब्दवृत्तियों की समीक्षा की गयी है। मम्मट ने उदात्त अलङ्कार के उदाहरण-विषयक पद्य में भोज की दानशीलता का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि ये भोजराज (ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध) से बाद में हुए थे। काव्यप्रकाश पर द्वितीय 'सङ्केत नाम्नी' माणिक्य चन्द्रसूरि की टीका ११६० ई० में लिखी गयी थी। इस प्रकार मम्मट का समय भोज (ग्यारहवी शती का पूर्वार्ध) और माणिक्यचन्द्र सूरि (११६० ई०) के मध्य प्रतीत होता है।

सागरनन्दी

'नाटकरत्नकोश' सागरनन्दी का महत्त्वपूर्ण नाट्यविषयक ग्रन्थ है। ये नन्दी वंश में उत्पन्न होने के कारण सागरनन्दी नाम से विख्यात हैं। इनके वास्तविक नाम का पता नहीं चलता है। इनके ग्रन्थ में रूपक, अवस्थापञ्चक, भाषाप्रकार, अर्थप्रकृति, अङ्क, उपक्षेपक, सन्धि-प्रदेश, पताकास्थानक, वृत्ति, लक्षण, अलङ्कार, रस, भाव, नायिका के गुण और भेद, रूपक के भेद तथा रूपक के प्रकारों का विवेचन हुआ है। ये धनञ्जय के समकालीन अथवा उनमें कुछ ही परवर्ती आचार्य हैं।

अग्निपुराणकार

अग्निपुराण प्राचीन भारत के ज्ञान और विज्ञान का रत्नकोष है। इसमें अलङ्कार-शास्त्र-विषयक तथ्यों का विस्तृत निरूपण किया गया है। इसमें काव्य का लक्षण और उसके भेद, अलङ्कार, कथा, आख्यायिका और महाकाव्य-विषयक काव्यशास्त्रीय विवेचन हुआ है। इसमें नाट्यशास्त्र से सम्बन्धित तथ्यों यथा नाटक के भेद, प्रस्तावना, अर्थ-प्रकृतियाँ, सन्धियाँ, रस, नायक-नायिका का भेद, भारती इत्यादि चारों वृत्तियों, वैदर्भी आदि रीतियों, नृत्य में होने वाले अङ्गविक्षेपों इत्यादि का विवेचन प्राप्त होता है।

रुय्यक

रुय्यक के काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ अलङ्कारसर्वस्व, व्यक्तिविवेकविचार, काव्य-प्रकाशसङ्केत, सहृदयलीला, अलङ्कारमञ्जरी, अलङ्कारानुसरिणी, साहित्यमीमांसा, नाटक-मीमांसा और अलङ्कारवार्त्तिक हैं। राजानक रुप्यक कश्मीरी पण्डित थे। इनका नाम रुय्यक भी था। इनके पिता का नाम राजानक तिलक था, जिन्होंने उद्भट के ग्रन्थ पर उद्भटविवेक का उद्भटविचार नामक टीका लिखा था। इनका समय बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

जयदेव

जयदेव ने चन्द्रालोक नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ को लिखा है। यह ग्रन्थ दश मयूखो में विभक्त है जिनमें काव्य का लक्षण, काव्य के हेतु, शब्द के त्रिविध भेद, दोष,

अलङ्कार, रस, भाव, त्रिविध रीतियों, पाँच वृत्तियों, व्यञ्जना तथा ध्वनिकाव्य के भेदों, गुणीभूत व्यङ्ग्य के प्रकारों, लक्षणा और व्यञ्जना का निरूपण हुआ है। इनके पिता का नाम महादेव और माता का नाम सुमित्रा था। इनका समय तेरहवीं शताब्दी का मध्यभाग है।

विश्वनाथ

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मम्मट के बाद विश्वनाथ ही अधिक ख्यातिलब्ध हैं। विश्वनाथ के समान बहुमुखी प्रतिभा आचार्य मम्मट में नहीं दृष्टिगोचर होती। विश्वनाथ विद्वद्वंश में हुए थे। इनके पिता चन्द्रशेखर स्वयं महाकवि और पितामह नारायण पण्डित उत्कृष्ट विद्वान् थे। इनका समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है।

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विश्वनाथ का साहित्यदर्पण लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है। साहित्य-दर्पण काव्यशास्त्र का विश्वकोश है। इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। साहित्य-दर्पण के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इन्होंने महाकाव्य, काव्य, नाटक इत्यादि अनेक विषयों का ग्रन्थ लिखा था। इनकी अन्य कृतियाँ हैं– राघवविलास (महाकाव्य), कुवलयाश्वचरति (प्राकृत-काव्य), प्रभावती-परिणय (नाटिका), चन्द्रकला (नाटिका), नरसिंह विजय (काव्य) और प्रशस्ति-रत्नावली।

जगन्नाथ

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में जगन्नाथ को उत्कृष्ट स्थान प्राप्त है। ये मम्मट और विश्वनाथ की श्रेणी के आचार्य थे। इनको शाहजहाँ से पण्डितराज की उपाधि प्राप्त थी। पण्डितराज ने काव्य, व्याकरण और काव्यशास्त्र— तीनों विषयों पर ग्रन्थ लिखा था। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इन्होंने चित्रमीमांसाखण्डन और रसगङ्गाधर नामक ग्रन्थ लिखा था। रस-गङ्गाधर इनकी सर्वोच्च रचना है जो नागेशभट्ट की पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणी के साथ अधूरी ही प्राप्त होती है। व्याकरण के क्षेत्र में मनोरमा के खण्डन के लिए 'मनोरमा-कुचमर्दन' नामक ग्रन्थ लिखा। इसके अतिरिक्त काव्यविषयक भामिनीविलास, आसफ-विलास, गङ्गालहरी, करुणालहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, जगदाभरण, प्राणभरण, सुधालहरी तथा यमुनावर्णनचम्पू ग्रन्थ लिखा है।

पण्डितराज दिल्ली सम्राट् शाहजहाँ और उनके गुणी पुत्र दाराशिकोह के प्रेम-भाजन थे। पण्डितराज सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक जीवित थे।

इस प्रकार काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य भरत से लेकर जगन्नाथ तक काव्य-शास्त्रियों की एक लम्बी परम्परा थी। इस परम्परा में अनेक काव्यशास्त्रियों ने काव्य-

विषयक विविध तथ्यों का स्वमतानुसार निर्धारण किया। दण्डी भी उसी परम्परा की एक कड़ी हैं। इनका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यादर्श काव्यशास्त्रीय आचार्यों में स्नेहभाजन रहा है। इनका विस्तृत परिचय आगे दिया जा रहा है।

आचार्य दण्डी

अवन्तिकथा सुन्दरी के अनुसार दण्डी कौशिकगोत्रीय ब्राह्मणकुल-परम्परा में पैदा हुए थे। इनके पूर्वज भारत के पश्चिमोत्तर भाग (पञ्चनद प्रदेश) में आनन्दपुर नगर के निवासी थे। वे यहाँ से आकर नासिक्य (महाराष्ट्र के नासिक) प्रदेश के अचलपुर नामक स्थान में बस गये। यहाँ नारायण स्वामी के घर दण्डी के प्रपितामह दामोदर स्वामी का जन्म हुआ और वहीं स्थायी रूप से बस गये। दामोदर स्वामी संस्कृत के प्रतिभासम्पन्न कवि थे। उन्हें अन्ततः काञ्चीपुर में राजाश्रय मिला। दण्डी दामोदर के तीन पुत्रों में मध्यम पुत्र मनोरथ के पौत्र तथा वीरदत्त के पुत्र थे। इनकी माता का नाम गौरी था। दण्डी की ७ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार हुआ और उन्होंने वेदाध्ययन प्रारम्भ किया। इसी समय इस छोटी अवस्था में ही दण्डी की माता का देहावसान हो गया तथा कुछ दिनों बाद इनके पिताजी गोलोकवासी हो गये। माता-पिता से विहीन दण्डी निराश्रित होकर काञ्चीपुर में रहने लगे। लगभग इसी समय काञ्चीपुर पर शत्रु सेना के आक्रमण से वहाँ विप्लव मच गया और दण्डी को राजधानी छोड़कर जंगल में भागना पड़ा और विभिन्न गुरुकुलों में रहकर शिक्षा प्राप्त किये। तदुपरान्त शान्ति होने पर पुनः पल्लवनरेश की सभा में आ गये और वहीं रहने लगे। जीवन के अन्तिमभाग में काञ्चीपुर के पल्लवराज के आश्रम में रहकर सुखपूर्वक जीवनयापन किये। काव्यादर्श में काञ्ची और वहाँ के पल्लवनरेश के विरुद का समुल्लेख इस निगूढ़ प्रहेलिका में प्राप्त होता है—

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता।
अस्ति काचित्पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः ॥

(द्रष्टव्य : काव्यादर्श ३.११४)

एक परम्परा के अनुसार काव्यादर्श १.५ के आधार पर यह कहा जाता है कि दण्डी ने अपने आश्रयदाता के पुत्र को काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए काव्यादर्श की रचना किया था। कुछ भी हो किन्तु इतना तो अवश्य है कि ये काव्य तथा काव्यशास्त्र के क्षेत्र में निष्णात पण्डित थे और इनके पूर्वज भी पाण्डित्य पूर्ण थे। इनको अपने जीवन काल में पर्याप्त सम्मान प्राप्त था। इनकी ख्याति काव्य और काव्यशास्त्र दोनों क्षेत्र में थी। ये परम वैष्णव थे। शैव सम्प्रदाय के प्रति भी उनकी रचनाओं के यत्र-तत्र समादर दृष्टिगोचर होता है।

इनकी रचनाओं के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इन्होंने सम्पूर्ण भारत का परिभ्रमण किया था और प्रत्येक स्थान की लोक परम्पराओं और व्यवहारों से इनका समीपस्थ परिचय था क्योंकि इनकी रचनाओं में इनका जीवन-दर्शन और अनुभव विविध रूपों में दृष्टिगोचर होता है। ये विविध शास्त्रों, और कलाओं के ज्ञाता थे। इनमें तीक्ष्ण मेधा और अगाध पाण्डित्य के साथ-साथ अलौकिक काव्य-प्रतिभा थी। ये वाक्पटु और विनोदी स्वभाव के सहृदय व्यक्ति थे। इनका व्यावहारिक जीवन कौतूहल-पूर्ण और साहस-सम्पन्न था।

रचनाकाल

दण्डी के रचना काल के विषय में विद्वानों में मतसाम्य नहीं दिखलायी पड़ता। कतिपय विद्वान् इन्हें भामह से पूर्ववर्ती मानते है तो कतिपय भामह के परवर्ती। दण्डी के काल निर्धारण के प्रसङ्ग में निम्नलिखित तथ्य विशेष रूप से ध्यातव्य है।

पूर्वसीमा का निर्धारण

(१) काव्यादर्श १.३४ में सेतुबन्ध काव्य का उल्लेख किया गया है। सेतुबन्ध काव्य के कर्त्ता वाकाटकवंशीय राजा प्रवरसेन द्वितीय हैं जिनका समय लगभग ४१० से ४४० ई० है, इस प्रकार राजा प्रवरसेन दण्डी से पूर्ववर्ती हैं और दण्डी ने काव्यादर्श की रचना इसके बाद ही किया है।

(२) दण्डी द्वारा काव्यादर्श २.२४० में कर्मत्रैविध्य का उल्लेख किया है जो भर्तृहरि के वाक्यपदीय ३.७.४५ पर आधारित है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि का समय ४५०-५०० ई० माना जाता है।

(३) काव्यादर्श में निर्दिष्ट उदाहरण भास, कालिदास और बाणभट्ट से प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। भास का 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' अंशतः २.२२६ में, कालिदास का 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति', अंशतः १.३५ में उद्धृत है। काव्यादर्श में केवल निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवन-प्रभवम्' इत्यादि बाण के गद्यांशों का प्रभाव दण्डी के अरत्मनालोकसंहार्यमवार्यं सूर्य-रश्मिभिः । दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः (२.१९७) इत्यादि पद्यों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इनमें सबसे परवर्ती कवि बाणभट्ट का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

(४) आख्यायिका के वक्ता के रूप में नायक के होने के प्राचीन आचार्यों के मत का दण्डी ने खण्डन करतें हुए कहा है कि प्राप्त आख्यायिका ग्रन्थों में वक्ता के रूप में नायक से अन्य व्यक्ति भी दृष्टिगोचर होते है। दण्डी का यह कथन सम्भवतः बाण के आख्यायिका ग्रन्थ हर्षचरित को लक्ष्य बनाकर कहा गया है जिसमें वक्ता स्वयं नायक हर्ष

नहीं प्रत्युत कर्त्ता बाणभट्ट हैं। इससे भी स्पष्ट होता है कि दण्डी के सम्मुख पूर्ववर्ती बाण की रचना हर्षचरित विद्यमान थी।

(५) भारवि दण्डी से पूर्ववर्ती थे क्योंकि भारवि का स्पष्ट प्रभाव दण्डी के काव्यादर्श के चित्रालङ्कार निरूपण के प्रसङ्ग में देखा जाता है। सम्भव है कि भारवि के श्लोकों को लक्ष्य करके दण्डी ने अपने लक्षण का प्रतिपादन किया हो। जैसे कि किरातार्जुनीय में एक वर्ण माला पद्य है—

न नोननुन्नो नाना नानानना ननु । नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेन नुन्ननुन्ननुत् ॥

(किरात० १५-१४)

इस प्रकार का एकवार्णिक छन्द का उदाहरण दण्डी ने भी ३.९५ में दिया है—

नूनं नुन्नानि नानेन नाननेनाननानि नः । नानेन ननु नानूनेनैनेनानानिनो निनीः ॥

चूँकि लक्षण के उदाहरण देने के लिए दण्डी स्वयं कृतसङ्कल्प है, अतः उन्होंने भारवि का उदाहरण न देकर स्वनिर्मित उदाहरण दिया है।

इस प्रकार भारवि दण्डी के पूर्ववर्ती है। भारवि का रचनाकाल पञ्चमशताब्दी का उत्तरार्ध है।

इन तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि दण्डी का रचनाकाल सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध बाणभट्ट से पूर्व नहीं हो सकता।

उत्तरवर्ती सीमा का निर्धारण

इस विषय में ये तथ्य ध्यातव्य है—

(१) शील मेघवर्ण सेन अपने 'सिबलसलकर' ग्रन्थ में दण्डी को अपने उपजीव्य के रूप में निर्दिष्ट किया है और काव्यादर्श से प्रचुर सामग्री को ग्रहण किया है। शीलमेघ वर्ण सेन का समय ८३१ से ८५१ ई० माना जाता है।

(२) नृप तुङ्ग अमोघवर्ष ने अपने ग्रन्थ कविराजमार्ग में काव्यादर्श की प्रचुर सामग्री को उसी रूप में अथवा कुछ परिवर्तन के साथ गृहीत किया है। अमोघवर्ष का समय ८१५ से ८७५ ई० है।

(३) अपभ्रंश कवि स्वयंभू ने दण्डी को आचार्य के रूप में निर्दिष्ट किया है। इनका समय आठवीं शताब्दी है।

(४) वामन की काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में रीतिसिद्धान्त काव्यादर्श से विशेषरूप से प्रभावित है। वामन का समय लगभग ७७५ ई० माना जाता है।

इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दण्डी का रचनाकाल सप्तम

शताब्दी का उत्तरार्ध वामन से कुछ पूर्व होना चाहिए अथवा दोनों को कुछ वर्ष के अन्तराल के साथ समकालीन होना चाहिए।

रचनाएँ

दण्डी के रचनाकाल के समान उनकी रचनाओं के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। राजशेखर के अनुसार दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना किया था—

त्रयोऽग्नयस्त्रयोवेदास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥

दण्डी के तीन प्रबन्धों के अन्तर्गत कौन तीन ग्रन्थ है– इस विषय में विद्वान् एक मत नहीं है। कतिपय विद्वान् काव्यादर्श, दशकुमारचरित और अवन्तिसुन्दरीकथा– इन तीन ग्रन्थों को दण्डीकृत मानते हैं तो कतिपय विद्वान् काव्यादर्श, अवन्तिसुन्दरी कथा और द्विसन्धानकाव्य[१] को दण्डी की रचना मानते हैं। द्विसन्धानकाव्य सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। अतः दशकुमारचरित, अवन्तिसुन्दरी कथा और काव्यादर्श का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

दशकुमारचरित

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें दशकुमारों के चरित्र का वर्णन है। पुष्पपुरी (पटना) के राजा राजहंस द्वारा पराजित मालवराज मानसार तपस्या के बल से प्रभाव-सम्पन्न होकर पुनः पाटलीपुत्र पर चढ़ाई करके राजहंस को पराजित कर देता है और सपत्नीक जंगल में चला जाता है, और वहीं उसे राजवाहन नामक पुत्र हुआ तथा उनके मन्त्रियों को भी पुत्र उत्पन्न हुए। बड़े होकर ये परदेश जाते हैं तथा भाग्य की विषमता के कारण वे अलग-अलग देशों में पहुँच जाते हैं और विचित्र सङ्कटपूर्ण जीवन बिताते हैं। राजवाहन से पुनः मिलने पर वे अपने-अपने पर बीती घटनाओं को सुनाते हैं, इन्हीं साहसी राजकुमारों पर बीती घटनाओं का वर्णन दशकुमारचरित में किया गया है। इस प्रकार दशकुमारचरित एक घटना प्रधान कथानक है जो गद्यकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

दशकुमारचरित को तीन खण्डों में बाँटा जा सकता है— भूमिका, मूलग्रन्थ तथा पूरक भाग। भूमिका भाग एक से पाँच उछ्वास तक पूर्वपीठिका के नाम से प्रसिद्ध है। तदनन्तर आठ उछ्वास मूलग्रन्थ दशकुमारचरित है तथा पूरक अन्तिम उछ्वास उत्तर-

१. इस ग्रन्थ का उल्लेख भोजराज ने शृङ्गारप्रकाश में 'रामायणमहाभारतयोर्दण्डिद्विसन्धानमिव'– इस प्रकार किया है।

पीठिका के नाम प्रख्यात है। मूलग्रन्थ के आठ उच्छ्वासों में केवल आठ ही कुमारों का चरित वर्णित है परन्तु नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए अन्य दो कुमारों का चरित पूर्व पीठिका में जोड़ दिया गया है। उत्तरपीठिका जोड़ देने से ग्रन्थ की पूर्णता हो जाती है।

अवन्तिसुन्दरी कथा

इस ग्रन्थ में कादम्बरी की कथा का वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राचीन कविविषयक स्तुतिपद्यों के बाद दण्डी तथा उनके पूर्वजों का ऐतिहासिक वर्णन है। यह दण्डी का प्रख्यात गद्यकाव्य है। सम्प्रति यह अधूरा ही उपलब्ध होता है। इसकी रचनाशैली अत्यधिक उदात्त है। स्थल-स्थल पर शैली में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। गाँढ-बन्ध के लिए जहाँ लम्बे-लम्बे समासों की भरमार है वहीं उपदेशात्मक स्थलों पर असमस्त अथवा अत्यधिक छोटे-छोटे समास वाले पदों का प्रयोग हुआ है।

काव्यादर्श

यह दण्डी का काव्यशास्त्रीय उत्कृष्ट ग्रन्थ है। काव्यशास्त्रियों में भामह की अपेक्षा दण्डी को कम महत्त्व प्राप्त हो सका है। विद्वानों की दृष्टि में इसका कारण यह है कि दण्डी दक्षिण भारत के निवासी थे और काव्यशास्त्र के लेखन का प्रमुख क्षेत्र कश्मीर था अत: कश्मीरी पण्डित-परम्परा ने उनको नहीं अपनाया।

काव्यादर्श तीन परिच्छेदों में विभक्त है। इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में १०५, द्वितीय में ३६८ तथा तृतीय परिच्छेद में १८७ इस प्रकार कुल ६६० श्लोक हैं। प्रथम परिच्छेद में ग्रन्थ की प्रस्तावना, काव्य का लक्षण, काव्य के भेद, वैदर्भ और गौडीय मार्ग, दश गुणों तथा काव्य के हेतु का निरूपण हुआ है। द्वितीय परिच्छेद में अलङ्कार का लक्षण, अर्थालङ्कार के समुद्देश, स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, यथासंख्य, पर्यायोक्ति, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्योगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, संसृष्टि अलङ्कार का वर्णन हुआ है। तृतीय परिच्छेद में यमक तथा चित्र अलङ्कारों का विवेचन हुआ है साथ ही दश दोषों का निरूपण किया गया है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य भरत के बाद दण्डी से लेकर जगन्नाथ तक एक सुदीर्घ परम्परा है। आचार्य भरत के बाद दण्डी तक के लगभग एक हजार वर्ष के अन्तराल में हुए काव्यशास्त्र-विषयक कार्यों का कोई इतिहास नहीं मिलता, अत: इस अन्तराल में हुए काव्यशास्त्रीय आचार्यों के विषय में हम अनभिज्ञ हैं। इस विषय में गहन और सूक्ष्म वैज्ञानिक अनुसन्धान की आवश्यकता है।

काव्यादर्श की टीकाएँ

काव्यादर्श पर की गयी अनेक टीकाओं से काव्यशास्त्र के क्षेत्र में काव्यादर्श की लोकप्रियता प्रमाणित होती है। इस ग्रन्थ पर टीकाओं का लेखन दशम शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया था। काव्यादर्श टीकाओं का विवरण इस प्रकार है—

१. रत्नश्रीज्ञानकृत रत्नश्री टीका

काव्यादर्श पर बौद्धभिक्षु रत्नश्री ज्ञान ने रत्नश्री नामक टीका लिखा है, जो प्रकाशित है। रत्नश्री ज्ञान ने गौड काल के तेइसवें वर्ष अर्थात् ९३१ ई० में इस टीका को लिखा था। इस टीका में उन्होंने भरत, अश्वघोष, गुणाढ्य, मल्लनाग, कालिदास, प्रवरसेन, मातृचेट, आर्यशूर, कोहल, भारवि, माघ, बाणभट्ट, भामह, भातृचेट इत्यादि काव्यकारों और शास्त्रकारों का उल्लेख किया है।

२. वादिजङ्घालकृत श्रुतानुपालिनी टीका

यह टीका प्रकाशित है तथा इसका हस्तलेख भण्डारकर ओरियन्टल रीसर्च इन्स्टीट्यूट पूना ग्रन्थसूची १२ संख्या १२५ में सुरक्षित है। गंगवंशीय राजा मारसिंह (९६३ ई०) के एक ताम्र अभिलेख में वादिघङ्घालभट्ट उपाधिधारी एक जैन आचार्य मुञ्जार्य का नाम निर्देश प्राप्त है। सम्भवत: यहीं वादिघङ्घाल या वादिजङ्घाल इस टीका के कर्त्ता हैं।

३. अज्ञात कर्तृक हृदयङ्गमा टीका

हृदयङ्गमा टीका के कर्त्ता का नाम अज्ञात है। यह टीका भी प्रकाशित है। इस टीका में दण्डी से पूर्ववर्ती काव्यशात्रियों– काश्यप, वररुचि, भामह तथा काव्यकार कालिदास के नाम का उल्लेख हुआ है। इस टीका का काल भोज से बाद में माना जाता है।

४. तरुणवाचस्पतिकृत टीका

यह टीका भी प्रकाशित है। तरुण वाचस्पति के पुत्र केशवभट्टारक होयसल के राजा रामनाथ (राज्यारोहरण १२५५ ई०) के गुरु थे। अत: तरुण वाचस्पति का काल बारहवीं शताब्दी का अन्त और तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ होना चाहिए। इस टीका में सरस्वती-कण्ठारभणालङ्कार २.२८ और दशरूपक १.८ को उद्धृत किया गया है।

५. केशवभट्टारककृत टीका

तरुणवाचस्पति के पुत्र केशवभट्टारक ने भी काव्यादर्श पर टीका लिखा है जो अभी अप्रकाशित है। केशवभट्टारक का काल तेरहवीं शती का मध्य भाग है।

६. हरिनाथकृत मार्जनी टीका

हरिनाथ कृत मार्जनी नामक टीका अप्रकाशित है। इसका हस्तलेख भण्डारकर ओरिअन्टल रिसर्च इस्टीट्यूट पूना सूची १२ संख्या १२४ में सुरक्षित है। हरिनाथ विश्वधर के पुत्र और केशव के अनुज हैं। इस टीका में केवश मिश्र (सोलहवीं शताब्दी का तृतीय भाग) का उद्धरण दिया गया है। इस प्रकार इनका काल १५७५-१६७५ के बीच होना चाहिए।

७. मल्लिनाथकृत वैमल्यविधायिनी टीका

वैमल्यविधायिनी टीका के कर्त्ता मल्लिनाथ प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ से भिन्न हैं। टीकाकार मल्लिनाथ जगन्नाथ के पुत्र हैं। इनका उल्लेख विश्वेश्वरभट्ट के अलङ्कारकौस्तुभ (१८वीं का पूर्वार्ध) में काव्यादर्श के टीकाकार के रूप में हुआ है अतः इनका समय १८वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती है।

इनके अतिरिक्त त्रिशरणतटभीमकृत चन्द्रिका, नरसिंहसूरिकृत दण्ड्यर्थ मुक्तावली, विश्वनाथकृत रसिकरञ्जिनी, भगीरथकृत टीका, यामुन या यामुनेयकृत टीका, कृष्ण-किङ्करकृत तर्क वागीशकृत विवृति अथवा काव्यतत्त्वविवेककौमुदी नामक टीका, उपलब्ध हैं जो अभी प्रकाशित नहीं है।

इन प्राचीन टीकाओं के अतिरिक्त आधुनिककाल में भी काव्यादर्श पर टीकाएँ लिखी गयी हैं। उनमें से प्रेमचन्द्र वागीशकृत मालिन्यप्रोञ्छनी टीका (१८६३ में कलकता से प्रकाशित), जीवानन्द विद्यासागरकृत विवृत्ति (१८८२ में कलकत्ता से प्रकाशित), नृसिंहदेवशास्त्रीकृत कुसुमप्रतिभा टीका (१९२५ में लाहौर से प्रकाशित)। रङ्गाचार्य-शास्त्रीकृत प्रभा टीका (१९३८ में पूना से प्रकाशित), रामचन्द्रमिश्रकृत प्रकाश-टीका १९५८ में वाराणसी से प्रकाशित तथा धर्मेन्द्र कुमार गुप्तकृत सुदर्शना टीका (१९७३ में दिल्ली से प्रकाशित) प्रमुख टीकाएँ हैं।

काव्यादर्श : प्रमुख प्रतिपाद्य-विषय

प्रथम परिच्छेद

ग्रन्थ का उपस्थापन

दण्डी ने मङ्गलाचरण के पश्चात् अपने ग्रन्थ को उपस्थापित किया है। दण्डी के सामने इसने पूर्ववर्ती कतिपय आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ विद्यमान थे। आचार्य ने अपने ग्रन्थ को लिखने से पूर्व काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का सूक्ष्मदृष्ट्या अध्ययन तथा उनमें प्रतिपादित विषयों पर गहन चिन्तन किया था। तत्पश्चात् उन प्रतिपादित काव्यशास्त्रीय

विषयों के नियमों की समालोचना करके अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यादर्श का प्रणयन किया था। अपने प्रतिपादित ग्रन्थ में लक्षित नियमों को उन्होंने उस समय उपलब्ध काव्य-ग्रन्थों के प्रयोगो की कसौटी पर भी कसा था। उनके द्वारा प्रतिपादित लक्षण लक्ष्यग्रन्थों पर पूर्णतः लागू होते थे। इस प्रकार दण्डी ने अपनी बुद्धि के अनुसार पूर्ववर्ती काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित नियमों की समालोचना करके और लक्ष्यग्रन्थों की कसौटी पर कसकर अपने काव्यशास्त्र का प्रणयन किया था। जैसा कि उन्होंने कहा है—

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च।
यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम् ॥ (१.२)

इस प्रकार इस ग्रन्थ में दण्डी ने काव्यविषयक लक्षण को प्रतिपादित किया है। 'काव्यलक्षण' के आधार पर कतिपय आचार्य काव्यादर्श का नामकरण काव्यलक्षण करते हैं। मिथिला विद्यापीठ दरभङ्गा द्वारा प्रकाशित रत्नश्री टीका (९३१) की पाण्डुलिपि में इस ग्रन्थ का नाम काव्यलक्षण उल्लिखित है तथा वक्रोक्तिजीवित ३.३३ में दण्डी को लक्षणकार कहा गया है।

वाणी की उपयोगिता

लोकव्यवहार के लिए वाणी की आवश्कता होती है क्योंकि विचारों के आदान-प्रदान का साधन वाणी ही है। वाणी के विना लोकव्यवहार का कोई भी कार्य नहीं चल सकता है। वाणी दो प्रकार की होती है– अनुशासित और अननुशासित। अनुशासित वाणी (वाक्) वह वाणी है जो वैयाकरणों द्वारा प्रकृतिप्रत्यय इत्यादि के नियमों द्वारा साधित होती है तथा इन नियमों से साधित वाणी से अन्य वाणी अननुशासित वाणी कहलाती है। लोकव्यवहार में शिक्षित लोग अनुशासित वाणी का प्रयोग करते हैं तथा अशिक्षित लोग अननुशासित वाणी का, किन्तु लोकव्यवहार के लिए दोनों में से किसी भी वाणी का प्रयोग अवश्य होता है। यह वाणी ही समस्त लोक का प्रकाशतत्त्व है। इसी के द्वारा समस्त लोक के कार्यव्यवहार चलते हैं। यदि वाणी न हो लोक का कार्य-व्यवहार नहीं चल सकता।

काव्य की उपयोगिता

यश को चिरस्थायी करने में काव्य अत्यधिक उपयोगी है। काव्य को दर्पण से भी उत्कृष्ट कहा गया है। जिस प्रकार दर्पण में सम्मुख विद्यमान वस्तु (बिम्ब) का प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है उसी प्रकार काव्य में वर्णित राजाओं का यश चिरस्थायी होता है। लौकिक दर्पण की अपेक्षा काव्यदर्पण में एक विशेषता होती है। यह सामान्य बात है कि लौकिक दर्पण में जब तक वस्तु (बिम्ब) दर्पण के सामने विद्यमान रहता है तब

तक उसका प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है किन्तु वस्तु के विद्यमान न रहने पर प्रतिबिम्ब नही दिखलायी पड़ता। काव्यदर्पण में ऐसी बात नहीं होती। काव्य में वर्णित राजाओं का यश उनके न रहने पर भी युग-युगान्तर तक प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार काव्य से उसमें वर्णित व्यक्ति तथा उसके कर्त्ता का यश चिरस्थायी बना रहता है।

काव्यशास्त्र के ज्ञान की आवश्यकता

सम्यक् रूप से दोषरहित और गुणालङ्कार सहित प्रयुक्त वाणी अभीष्ट फल देने वाली तथा दोषपूर्ण वाणी प्रयोक्ता की मूर्खता को प्रकट करती है। इसलिए काव्य में स्वल्प दोष वाली वाणी के प्रयोग से बचना चाहिए क्योंकि काव्य के सुन्दर होने पर भी छोटा-सा दोष सम्पूर्ण काव्य की शोभा को विनष्ट कर देता है। काव्य के दोषों से बचने के लिए काव्यविषयक गुण, अलङ्कार और दोषों का ज्ञान परमावश्यक है। गुण, अलङ्कार और दोषों का विवेचन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ही किया गया है। अत: इन तत्त्वों के ज्ञान के लिए काव्यशास्त्र का अध्ययन अत्यावश्यक है। काव्यशास्त्र के ज्ञाता ही विभिन्न प्रकार की विधाओं वाली रचनाओं को निबद्ध करने में समर्थ होते हैं। इसीलिए प्राचीन आचार्यो ने काव्यशास्त्रीय ज्ञान की आवश्यकता को समझकर लोगों के काव्यशास्त्रविषयक ज्ञान के लिए काव्यात्मक वाणी के निर्माण की विधि का यथावत् विवेचन अपने ग्रन्थों मे किया है।

काव्य का स्वरूप

दण्डी ने काव्यस्वरूप के प्रतिपादन के लिए काव्यशरीर का परिचय दिया है। जिस प्रकार किसी वस्तु के स्वरूप का परिचय उसके शरीर से होता है इसी प्रकार काव्य का परिचय उसके शरीर के विवेचन से ही ज्ञात होता है। यद्यपि शरीर के अन्दर आत्मा अन्तर्निहित होती है किन्तु उस आत्मा के द्वारा किसी के स्वरूप का निरूपण नहीं किया जा सकता। इसलिए काव्य से परिचित कराने के लिए दण्डी ने काव्य-शरीर का निरूपण किया है।

दण्डी ने काव्यशरीर का लक्षण (परिचय) देते हुए कहा है कि 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' अर्थात् अभीष्ट (अभिप्रेत) अर्थ से युक्त पदावली (पदों का समूह) काव्य का शरीर है। इस प्रकार दण्डी ने अभिलषित अर्थ से समन्वित पदावली को काव्य या काव्य का शरीर तत्त्व माना है। इस प्रकार इस लक्षण में इन्होंने स्पष्टतया अर्थ की अपेक्षा शब्द पर अधिक बल दिया है। अर्थ की अभिप्रेतता तो काव्यत्व की एक शर्तमात्र है। जिस प्रकार गुण और अलङ्कार अनुप्रास, उपमा इत्यादि काव्यशरीर के शोभावर्धक तत्त्व हैं और प्रकृति-सुन्दर शरीर जिस प्रकार एक छोटे से श्वेत कुष्ठ के धब्बे से दूषित हो जाता है उसी प्रकार अतिशय शोभधायक काव्य भी एक छोटे से दोष

के कारण चमत्कार-विहीन हो जाता है। इसीलिए दण्डी ने अपने ग्रन्थ में काव्यशरीर के शोभाधायक तत्वों गुणों और अलङ्कारों का विवेचन किया है जिससे काव्यशरीर को कवि सुशोभित और चमत्कृत कर सके। साथ ही काव्यशरीर की शोभा के अपकर्षक दोषों का भी निरूपण किया है जिससे सावधानीपूर्वक बचकर कवि अपने काव्य की उत्कृष्टता और चमत्कारिका को दूषित न होने दे।

दण्डी ने काव्यशरीर का लक्षण तो किया है किन्तु काव्य के आन्तरिक तत्त्व अथवा उसके आत्मा का निरूपण नहीं किया है। अग्निपुराण में भी दण्डी के मत का ही अनुसरण करते हुए काव्य का लक्षण प्रतिपादित किया गया है— सङ्क्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। जगन्नाथ ने भी दण्डी का अनुसरण किया है– रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' किन्तु जहाँ दण्डी का इष्ट अर्थ हृद्य अथवा विवक्षित है वहीं जगन्नाथ का रमणीय अर्थ आनन्द का हेतु और रससापेक्ष है। इस प्रकार काव्यात्मक-तत्त्व के विषय में दोनों आचार्यों के दृष्टिकोणों में व्यापक अन्तर होने के कारण काव्य की दोनों परिभाषाएँ तत्त्वतः परस्पर समान नहीं है; क्योंकि दण्डी की इष्टता अर्थ के बाह्य सौन्दर्य अथवा लौकिक चमत्कार तक ही सीमित है किन्तु जगन्नाथ के अर्थ की रमणीयता उसके आन्तरिक सौन्दर्य अथवा अलौकिक चमत्कार की ओर अभिलक्षित करती है।

प्रायः प्राचीन सभी आचार्यों ने काव्य के लक्षण को काव्य-शरीर तक ही सीमित रखा है और शब्दार्थ युगल को काव्य माना है। इन आचार्यों ने गुण, अलङ्कार और निर्दोषता को अपने काव्यलक्षण में समाहित किया है। केवल विश्वनाथ ऐसे आचार्य हैं जो रसात्मक वाक्य को काव्य मानते हैं– वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (साहित्यदर्पण १.३)।

काव्य के भेद

दण्डी ने विनियोग की दृष्टि से काव्य के दो भेद माना है– दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव्य। लास्य (स्त्रीकृत नृत्य), क्षलित (शृङ्गार या वीर रस प्रधान पुरुष नृत्य) शल्या (मस्तक पर हाथ रखकर किया जोने वाला नृत्य) इत्यादि दृश्यकाव्य है। दृश्यकाव्य सुनने के साथ देखा भी जाता है जैसे नाटक इत्यादि। इससे अन्य सभी काव्य श्रव्य होते हैं जो केवल पढ़े या सुने जा सकते हैं– देखे नहीं जा सकते।

स्वरूप की दृष्टि से दण्डी ने काव्य को तीन भागों में विभक्त किया है– गद्य, पद्य और मिश्र।

पद्य

चार चरणों से युक्त रचना पद्य कहलाती है जो छन्दशास्त्र में विवेचित छन्द नियमों से प्रतिबद्ध होती है। पद्य को चतुष्पदी भी कहा जाता है क्योंकि इसमें चार चरण होते

हैं। कभी-कभी पद्य में चार से कम या अधिक भी चरण होते हैं किन्तु ऐसे पद्य बहुत कम संख्या मिलते हैं अत: उपलक्षण से उनका भी समाहार पद्य में हो जाता है।

छन्दोरूप की दृष्टि से पद्य दो प्रकार होता है— वृत्त और जाति। वृत्त छन्द वर्णिक होता है क्योंकि इसके पादों में अक्षरों की संख्या नियमित होती है। जैसे- मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी इत्यादि। जाति छन्द मात्रिक होता है क्योंकि इसके पादों में मात्राओं की सङ्ख्या नियमित होती है। जैसे आर्या, गीति इत्यादि।

महाकाव्य का स्वरूप

महाकाव्य को सर्गबन्ध भी कहा जाता है क्योंकि उसकी रचना सर्गों में विभक्त होती है। दण्डी ने महाकाव्य में सर्गों की संख्या के विषय में कोई निर्देश नहीं किया है किन्तु परवर्ती काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने महाकाव्य में कम से कम आठ सर्ग होने का विधान किया है। महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक होना चाहिए। रामायण और महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ माने जाते हैं। ऐतिहासिक कथानक में पौराणिक कथानकों का भी अन्तर्भाव हो जाता है। इतिहास प्रसिद्ध कथानक के अतिरिक्त किसी सत्पुरुष के चरित को भी कथानक के रूप में वर्णित किया जा सकता है। महाकाव्य में पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का अथवा इनमें से किसी एक के फल का वर्णन होता है। महाकाव्य का नायक दक्ष और उदात्त होना चाहिए। शास्त्रकारों ने नायक के चार भेद माना है- धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरप्रशान्त। यहाँ उदात्त पद से उलक्षण होने के कारण नायक के अन्य भेदों का भी ग्रहण हो जाता है।

महाकाव्य में नगर, समुद्र, पर्वत, ॠतु, चन्द्रोदय और सूर्योदय, उद्यानक्रीडा, जलविहार,मदिरापान, मदनोत्सव इत्यादि का वर्णन होता है। इन वर्णनों के साथ-साथ पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण- इन चार भेद वाले विप्रलम्भशृङ्गार, गान्धर्वादि विवाह और पुत्रोत्पति के वर्णन का भी समावेश होता है। इनके अतिरिक्त राजनैतिक गुप्तमन्त्रणा, दूत-सम्प्रेषण, विजययात्रा, सङ्ग्राम और नायक के अभ्युदय का वर्णन होता है। इन वर्णनों से संयोजित महाकाव्य का अपेक्षित विस्तार होना चाहिए अर्थात् महाकाव्य न तो अधिक विस्तृत हो और न अधिक छोटा ही हो। महाकाव्य में शृङ्गार इत्यादि रस, रति इत्यादि आदि आठ स्थायी भावों तथा निर्वेद इत्यादि तैतीस व्यभिचारी भावों का समन्वय होता है। इसके सर्ग न तो अधिक बड़े-बड़े होते हैं और न ही बहुत छोटे-छोटे प्रत्युत सामान्य होते हैं। इसमें प्रयुक्त छन्द सुनने में रमणीय लगने वाले होते हैं। इसमें परस्पर सम्बद्ध और विविध घटनाओं का समायोजन होता है। महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग में भिन्न-भिन्न घटनाओं का वर्णन होता है। कतिपय विद्वानों के अनुसार सर्ग का अन्तिम पद्य शेष पद्यों से भिन्न छन्द में होता है। इसमें अनुप्रास इत्यादि शब्दालङ्कारों और

उपमा इत्यादि अर्थालङ्कारों का यथोचित प्रयोग होता है। महाकाव्य लोकानुरञ्जन करने वाला होता है।

महाकाव्य में समायोजन किये जाने वाले जिन तत्त्वों का उल्लेख ऊपर किया गया है उन प्रतिपादित तत्त्वों में से सभी तत्त्वों का महाकाव्य में वर्णन किया जाना अनिवार्य नहीं है। उनमें से कुछ तत्त्वों के समायोजन की कमी भी महाकाव्य में हो सकती है; किन्तु महाकाव्य में चारुता होने पर कतिपय प्रतिपादित तत्त्वों के अभाव में भी उसके महाकाव्यत्व की हानि नहीं होती।

महाकाव्य में प्रतिपाद्यविषय की वर्णनविधा

महाकाव्य का प्रमुख प्रतिपाद्य नायक के उत्कर्ष और प्रतिनायक के अपकर्ष का वर्णन होता है। इस वर्णन के दो क्रम है– (१) सर्वप्रथम नायक के गुणों की महिमा का प्रतिपादन होता है तत्पश्चात् नायक के द्वारा प्रतिनायक के विनाश का वर्णन करके नायक की उत्कृष्टता को दिखलाया जाता है। इस क्रम के वर्णन का उदाहरण रामायण है। (२) सर्वप्रथम प्रतिनायक के वंश, पराक्रम, ज्ञान इत्यादि का वर्णन होता है तत्पश्चात् नायक द्वारा प्रतिनायक पर विजय प्राप्त करके नायक की उत्कृष्टता प्रतिपादित की जाती है। इस क्रम का उदाहरण किरातार्जुनीय है। इस महाकाव्य में सर्वप्रथम प्रतिनायक दुर्योधन के लोकानुराधन इत्यादि गुणों के वर्णन के पश्चात् पाण्डवों द्वारा उसके विनाश को दर्शाया गया है।

नायकोत्कर्ष के वर्णन में किसी क्रम की उत्कृष्टता या अनुत्कृष्टता नहीं है। वर्णन के दोनों क्रम प्रशस्य है। क्रमों को अपनाना महाकाव्यकार की इच्छा पर आधारित है। वह अपनी इच्छानुसार किसी भी क्रम को अपनाने के लिए स्वतन्त्र है। भामह के अनुसार सर्वप्रथम प्रतिनायक की उत्कृष्टता का वर्णन उपयुक्त नहीं है क्योंकि महाकाव्य में प्रतिनायक की व्यापकता वाञ्छित नहीं होती अथवा अन्ततः उसका उत्कर्ष दिखलाना अभीष्ट नहीं होता, अतः आरम्भ में उसकी प्रशंसा करना व्यर्थ है।

गद्य

पद्य तो छन्दशास्त्र में वर्णित गणों और मात्राओं वाले चरणों से नियमित होता है किन्तु गद्य में ऐसे चरणों का अभाव होता है। जो पदसमूह छन्दशास्त्रीय नियमों से प्रतिबन्धित नहीं होते, वे गद्य कहलाते हैं। इस प्रकार गद्य छन्दोरहित वह रचना है जिसके वाक्य में अक्षरों या मात्राओं की संख्या निश्चित नहीं होती। वैदिक भाषा में गद्य के लिए यजुष् संज्ञा प्रदान की गयी है और उसका लक्षण किया गया है– 'अनियताक्षरात्मको यजुः' अर्थात् यजुष् (गद्य) के वाक्यों में अक्षरों की संख्या नियमित (निश्चित) नहीं होती

गद्य काव्य के भेद और दण्डी का आक्षेप

दण्डी ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार गद्यकाव्य के दो भेदों का उल्लेख किया है– आख्यायिका और कथा। दण्डी गद्यकाव्य के दोनों भेदों में कोई विशेष अन्तर नहीं मानते। उनके अनुसार कथा और आख्यायिका में केवल नाम (संज्ञा) का भेद है। वास्तविक रूप से दोनों में कोई भेद नहीं है। दोनों की जाति समान अर्थात् गद्यजाति है। इसीलिए उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट कथा और आख्यायिका के भेदक तत्त्वों का खण्डन किया है, जो इस प्रकार है—

(१) पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार आख्यायिका में कथानक का प्रस्तोता स्वयं कथानक का नायक होता है किन्तु कथा में कथानक का प्रस्तोता या तो स्वयं नायक होता है अथवा नायक से अन्य व्यक्ति भी हो सकता है। दण्डी ने इस पर आक्षेप किया है कि यह कोई सार्वभौम नियम नहीं है कि आख्यायिका के कथानक का प्रस्तोता नायक ही होता है क्योंकि नियम का अपवाद भी मिलता है। दण्डी के समक्ष ऐसे भी आख्यायिका ग्रन्थ विद्यमान थें जिनमें कथानक का प्रस्तोता नायक से अन्य व्यक्ति था। जैसा कि बाणभट्ट द्वारा रचित आख्यायिका ग्रन्थ हर्षरचित में नायक हर्षवर्धन हैं किन्तु उसके कथानक को प्रस्तुत करने वाले हर्षवर्धन नहीं प्रत्युत नायक से अन्य व्यक्ति बाणभट्ट हैं। इस प्रकार आख्यायिका के नायकवक्तृता का सिद्धान्त हर्षचरित पर लागू नहीं होता।

(२) पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार आख्यायिका में वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है किन्तु कथा में आर्या इत्यादि छन्दों का प्रयोग होता है। दण्डी को कथा और आख्यायिका का यह भी भेदक तत्त्व स्वीकार नहीं है। उनका कथन है कि जिस प्रकार आख्यायिका में वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है उसी प्रकार उसमें आर्या इत्यादि छन्दों का प्रयोग हो सकता है तथा जिस प्रकार कथा में आर्या इत्यादि छन्दों का प्रयोग होता है उसी प्रकार वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग हो सकता है, अतः यह भी कोई सार्वभौम नियम नहीं हैं।

(३) पूर्ववर्ती आचार्यों के अनुसार आख्यायिका ग्रन्थ का विभाजन उच्छ्तासों में होता है किन्तु कथाग्रन्थ में ऐसा विभाजन हीं होता। दण्डी को यह भी विभाजन वाला सिद्धान्त मान्य नहीं है। उनके अनुसार जिस प्रकार आख्यायिका का विभाजन उछ्वासों में होता है उसी प्रकार कथा का भी विभाजन लम्भकों में होता है। जैसे कथा सरित्सागर का विभाजन लम्भकों में हुआ है। उच्छ्वास तथा लम्भक दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। विभाजन उच्छ्वास में हो या लम्भक में, बात तो एक ही है।

(४) प्राचीन आचार्यों के अनुसार आख्यायिका में कन्या का अपहरण, विप्रलम्भ-

शृङ्गार, नायक का अभ्युदय (अथवा सूर्योदय और चन्द्रोदय) इत्यादि का वर्णन होता है। दण्डी ने इसका निराकरण करते हुए कहा है कि ये विषय तो महाकाव्य के समान ही आख्यायिका में भी वर्णित होते हैं। जिस प्रकार ये महाकाव्य में वर्णित होते हैं उसी प्रकार आख्यायिका इत्यादि काव्यविशेष में भी वर्णित हो सकते हैं।

(५) प्राचीन आचार्यों के अनुसार कवि के विशेष अभिप्राय के द्योतक विशिष्ट चिह्नों की योजना आख्यायिका में होती है। दण्डी ने आख्यायिका के भेदक इस तत्त्व को भी नहीं माना है। उनके अनुसार इन विशिष्ट चिह्नों का संयोजन आख्यायिका से अन्य ग्रन्थों में भी होता है, ये ग्रन्थ गद्यरूप हो या पद्यरूप। जैसे भारवि ने किरातार्जुनीय के प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'लक्ष्मी' माघ ने शिशुपालवध के प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'श्री' और हर्षवर्धन ने नैषधचरित के प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'आनन्द' शब्द का प्रयोग विशेष चिह्न के रूप में किया है।

इसलिए आख्यायिका और कथा में भेद करने वाले ये तत्त्व सार्वभौम न होने के कारण मान्य होने योग्य नहीं है। इस प्रकार आख्यायिका और कथा में मौलिक भेद नहीं है- दोनों गद्यकाव्य के ही एक रूप हैं।

प्राचीन आंचार्यों द्वारा निर्दिष्ट इन भेदक तत्त्वों को इस सारणी द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

आख्यायिका	कथा
(१) इसके कथानक का वक्ता नायक होता है।	(१) इसके कथानक का वक्ता नायक या नायक से अन्य व्यक्ति होता है।
(२) इसमें वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग होता है।	(२) इसमें आर्या इत्यादि छन्दों का प्रयोग होता है।
(३) इसका विभाजन उच्छ्वासों में होता है।	(३) इसका विभाजन नहीं होता।
(४) इसमें कविभावकृत 'श्री' 'लक्ष्मी' इत्यादि चिह्नों का प्रयोग करता है।	(४) इसमें ऐसा नहीं होता।
(५) इसमें कन्याहरण, विप्रलम्भशृङ्गार तथा नायक के अभ्युदय इत्यादि का वर्णन होता है।	——

मिश्र काव्य

जिस काव्य में पद्यात्मक और गद्यात्मक दोनों प्रकार की रचनाओं का मिश्रण होता है, वह मिश्र काव्य कहलाता है। इसके अन्तर्गत नाटक इत्यदि दश प्रकार के नाट्यग्रन्थ आते हैं। नाट्य ग्रन्थों की रचना पद्यों और गद्यों के मिश्रित रूप में होती है। इन नाट्य ग्रन्थों के अतिरिक्त जो पद्य और गद्य से मिश्रित रचनाएँ होती है, वे चम्पू कहलाती हैं।

भाषा के आधार पर काव्य के भेद

दण्डी ने काव्यशरीर को गद्य, पद्य और मिश्र इन तीनों भागों में विभाजित करके पुनः उन्हें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र भेद से चार विभागों में विभक्त किया है।

१. संस्कृत

संस्कृत भाषा वह भाषा है जो पाणिनि इत्यादि वैयाकरणों द्वारा प्रकृति प्रत्यय इत्यादि से अनुशासित है। व्याकरण द्वारा संस्कारित (शुद्ध) होने के कारण इसे संस्कृत कहा जाता है। इस भाषा को दैवी वाक् भी कहा जाता है क्योंकि देवताओं के प्रति किये गये सभी कृत्य इसी भाषा के माध्यम से सम्पादित होते हैं।

२. प्राकृत

प्राकृत भाषा वह भाषा है जिसका प्रयोग प्राकृत = साधारण लोग करते हैं। अथवा प्रकृति अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न होने के कारण प्राकृत कहलाती है। प्राकृत भाषा के शब्दों के कई रूप हैं। उसके कुछ शब्द संस्कृत शब्दों से निष्पन्न होते हैं किन्तु संस्कृत के शब्द नहीं होते जैसे हस्त का हत्त, कर्ण का कण्ण इत्यादि। कतिपय ऐसे शब्द होते हैं जो तत्सम होते हैं अर्थात् ऐसे शब्द संस्कृत के शब्द के समान ही होते है किन्तु विभक्ति का प्रयोग नहीं होता, जैसे- बालकः का बालक, गौः का गौ इत्यादि। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे देशी शब्द है जिनका प्रयोग केवल स्थान-विशेष में होता है।

स्थानभेद से प्राकृत का विभाजन

स्थानभेद से तत्तत्स्थान में बोली जाने वाली प्राकृत भाषा में कुछ न कुछ भेद हो गया है और इसी स्थान-विशेष के नाम पर तत्तत् प्राकृत का नाम भी पड़ा है। जैसे महाराष्ट्री, शौरसेनी, गौडी, लाटी इत्यादि। महाराष्ट्र प्रदेश में बोली जाने वाली प्राकृत महाराष्ट्री प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध है। महाराष्ट्री प्राकृत उत्कृष्टतम प्राकृत मानी जाती है। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को प्राकृतभाषा का प्रधान भेद स्वीकार किया है। वाकाटक के शासक प्रवरसेन द्वितीय की रचना सेतुबन्ध इसी भाषा में उपनिबद्ध है। यह

ग्रन्थ सूक्तियों का कोष माना जाता है। हाल सातवाहनकृत गाहासतसई (गाथाशप्तशती) वाक्पतिराज कृत 'गउडवहो' इसी भाषा में लिखे गये हैं।

महाराष्ट्री के समान शूरसेन प्रदेश में बोली जाने वाली प्राकृत शौरसेनी, गौड प्रान्त में बोली जाने वाली गौडी, लाट देश में बोली जाने वाली प्राकृत लाटी कहलाती है। इसी प्रकार मागधी, अवन्तिका, अर्धमागधी इत्यादि स्थान भेद से प्राकृत के भेद हैं।

अपभ्रंश

गोपालकों (चरवाहों) द्वारा लोकव्यवहार में प्रयुक्त भाषा अपभ्रंश कहलाती है; किन्तु शास्त्र में संस्कृत से अतिरिक्त सभी भाषाओं को अपभ्रंश नाम से अभिहित किया जाता है।

काव्य में भाषाओं का प्रयोग-क्षेत्र

दण्डी के अनुसार महाकाव्य इत्यादि की रचना संस्कृत भाषा में होती है। स्कन्धक इत्यादि छन्द-विशेष वाले ग्रन्थ प्राकृत भाषा में, ओसर इत्यादि छन्द विशेष वाले ग्रन्थ, अपभ्रंश भाषा में तथा नाटक इत्यादि रूपकों में पात्र की स्थिति के अनुसार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं का प्रयोग होता है । इस प्रकार इसकी भाषा मिश्रित भाषा हो जाती है। कथाग्रन्थ की भाषा संस्कृत होती है । इसके अतिरिक्त भी भाषाओं में कथा की रचना होती है। जैसे– बृहत्कथा की रचना पैशाची भाषा में हुई है जिसका संस्कृत रूपान्तरण बृहत्कथा श्लोकसङ्ग्रह, बृहत्कथामञ्जरी तथा कथासरित्सागर है।

मार्ग (रचना-पद्धति) का विवेचन

दण्डी के अनुसार रचना की अनेक पद्धतियाँ (विधाएँ) हैं। उन पद्धतियों में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर होता है। सूक्ष्म अन्तर के कारण सभी प्रकार की पद्धतियों के अन्तर का विवेचन उसी प्रकार असम्भव है, जिस प्रकार ईख, दूध और गुड़ के मिठास के अन्तर का विवेचन करना। इन पद्धतियों में से वैदर्भ और गौडीय मार्ग-पद्धतियों में यह अन्तर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। अत: उन्हीं पद्धतियों का विवेचन काव्यादर्श में किया गया है। दण्डी के परवर्ती आचार्यों में दण्डी द्वारा प्रयुक्त मार्ग के स्थान पर रीति संज्ञा का प्रयोग किया है। उन लोगों ने वैदर्भ मार्ग को वैदर्भ या कोमला रीति तथा गौडीय मार्ग को गौडीया या कठिना रीति के नाम से ख्यापित किया है। कतिपय आचार्यों ने इन दोनों रीतियों से मिश्रित काव्यपद्धति को मिश्रा रीति या पाञ्चाली नाम दिया है। इस प्रकार आचार्यों में इन रीतियों की संख्या में मत साम्य नहीं है।

दण्डी ने दोनों मार्गों के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए दशगुणों का विवेचन किया

है। इन गुणों की उद्भावना आचार्य भरत ने किया था। दण्डी ने इन्हीं गुणों का ग्रहण किया है। ये गुण आज भी शास्त्रकारों द्वारा किसी न किसी रूप में स्वीकृत है।

दण्डी ने दश गुणों का प्रतिपादन वैदर्भ मार्ग को दृष्टि में रखकर किया है। ये गुण वैदर्भमार्ग के प्राणस्वरूप तत्त्व हैं। गौडीय मार्ग वाले इन गुणों को दोष के रूप में मानते हैं। अत: यहाँ गुण तथा दोष का विवेचन मार्ग-विशेष के लिए किया गया है। इस प्रकार मार्ग-विशेष के लिए प्रतिपादित गुण दूसरे मार्ग के लिए दोष और दोष गुणरूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इन दश गुणों के द्वारा ही दोनों मार्गों का भेद स्पष्ट हो जाता है।

गुण-विवेचन

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि— ये दश गुण वैदर्भमार्ग के प्राण कहे जाते हैं।

१. श्लेषगुण

वैदर्भ मार्ग के अनुसार अल्पप्राण अक्षरों की बहुलता वाला अत: शिथिलता-दोष से रहित रचना श्लेष गुण समन्वित कहलाती है। स्पर्श वर्गों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम स्पर्श तथा य र ल व– ये अन्त:स्थ वर्ण अल्पप्राण वर्ण कहलाते हैं। इनसे अन्य वर्ण महाप्राण होते हैं। श्लेष गुण वाले बन्ध में महाप्राण वर्णों की अपेक्षा अल्पप्राण वर्णों का प्रयोग अधिक होता है। महाप्राण वर्णों से रहित केवल अल्पप्राण वर्णों वाली रचना शिथिल बन्ध वाली होती है। जैसे– 'मालतीमाला लोलालिकलिला' अर्थात् मालतीमाला चञ्चल भ्रमरों से व्याप्त है। इस पदावली में प्रयुक्त सभी वर्ण अल्पप्राण हैं अत: यहाँ शैथिल्य नामक दोष है। शैथिल्य दोषयुक्त पदावली को वैदर्भमार्गानुयायी स्वीकार नहीं करते। वे तो इसी अर्थ में 'मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैः' इस प्रकार की पदावली को स्वीकार करते हैं।

गौडीय-मार्ग के अनुसार 'मालतीमाला लोलालिकलिला' यह पदावली बन्धशैथिल्य दोष से मुक्त है क्योंकि इसमें अनुप्रास अलङ्कार है जो बन्धदृढ़ता वाला है। अत: यह पदावली गौडीय मार्ग वालों को अभीष्ट है।

२. प्रसादगुण

वैदर्भमार्ग के अनुसार प्रसिद्ध अर्थ वाला कथन प्रसाद गुण से समन्वित होता है, जैसे– 'इन्दोरिन्दीवरद्युति लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' अर्थात् चन्द्रमा का नीलकमल की कान्ति वाला चिह्न (कलङ्क) (उसकी) शोभा को बढ़ाता है। इस पदावली में प्रयुक्त सभी पद

प्रसिद्ध अर्थ वाले हैं। इस प्रकार ये सभी पद अर्थप्रतीति कराने में समर्थ हैं, अत. यहाँ प्रसाद गुण है।

गौडीय मार्गानुयायी प्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के संयोजन के साथ-साथ व्युत्पत्ति की दृष्टि से सङ्गत उन अप्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के भी संयोजन को काव्य के रूप में स्वीकार करते हैं जिनसे निहितार्थ-बोध के द्वारा भी अर्थ लगाया जाता है अर्थात् अस्पष्टता (निहितार्थता) दोष होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती। जैसे– ''अनत्यर्जुनाब्जन्म-सदृशाङ्को बलक्षगु:'' अर्थात् अनतिश्वेत (नीचे) कमल के समान चिह्न (कलङ्क) वाला चन्द्रमा (शोभामान हो रहा है)। यहाँ अर्जुनपद माध्यम पाण्डव के लिए प्रसिद्ध है किन्तु अनत्यर्जुन पद नीले अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है। इसी प्रकार अब्जन्म पद योगार्थ-घटित होने पर भी कमल के अर्थ में अप्रसिद्ध है तथा बलक्षगु: पद भी चन्द्रमा के अर्थ में प्रसिद्ध नहीं है फिर भी प्रयोग गौडीय मार्ग वालों को अभिमत है।

३. समतागुण

रचनाबन्ध (काव्यप्रबन्ध) में विषमता से रहित (= समानबन्ध वाले) बन्धसमता गुण से युक्त कहलाता है। रचनाबन्ध तीन प्रकार का होता है– मृदु (कोमल), स्फुट (कठोर) और मध्यम। ऋ और ऌ से व्यतिरिक्त सभी स्वर वर्ण, स्पर्श वर्गों के प्रथम, तृतीय और अन्तिम स्पर्श तथा अन्तस्थ य र ल व– ये मृदु या कोमल वर्ण कहलाते हैं। इन कोमल वर्णों से अन्य सभी वर्ण ऋ और ऌ वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ स्पर्श तथा ऊष्म श, ष, स, ह और विसर्जनीय, संयोग– ये स्फुट या कठोर वर्ण कहलाते हैं । जिस रचना में कोमल वर्णों का संयोजन होता है, वह मृदु, जिसमें कठोर वर्णों का संयोजन होता है वह स्फुट तथा दोनों प्रकार के वर्णों से संयोजित रचना मिश्र कहलाती है । इन तीनों प्रकार के बन्धों में कोई भी बन्ध उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट नहीं है– सभी की उपयोगिता समान है। यथावसर प्रत्युक्त होने पर ये सौन्ध्यीभिधायक होते हैं। वैदर्भमार्गानुयायी एक ही पद्य में भिन्न-भिन्न बन्धों के प्रयोग को उचित नहीं मानते किन्तु गौडीय मार्ग वाले बैषम्य की चिन्ता नहीं करते । ये अलङ्कार के उत्कर्ष को विशेष महत्त्व देते हैं।

४. माधुर्यगुण

सरस (मधुर) वाक्य माधुर्य गुण वाला होता है। माधुर्य गुण को दो भागों में बाँटा गया है– शब्दमाधुर्य और अर्थमाधुर्य। शब्दगत माधुर्य अनुप्रास अलङ्कार से होता है। शब्द माधुर्य के लिए वैदर्भ मार्ग के अनुयायी वृत्यानुप्रास को अभीष्ट मानते हैं किन्तु गौडीय मार्ग वाले वर्णानुप्रास को अभिमत स्वीकारते हैं।

श्रुत्यानुप्रास– जिस पद समुदाय में समान कण्ठ, तालु इत्यादि स्थानों वाले वर्णों

की अव्यवहित आवृत्ति होती है। वह अनुप्रास श्रुत्यानुप्रास कहलाता है। जैसे–

एष राजा यदा लक्ष्मीं प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रिय: ।
तदा प्रभृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवोऽभवत् ।। (१.५३)

इस उदाहरण में ष-र, ज-य, द-ल, म-प, त-व-न, ब-म, म-ण, इ-य, त-द, प-भ, त-ध, न-त-स तथा भ-व समान स्थान वाले वर्णों की आवृत्ति हुई है अत: यहाँ श्रुत्यनुप्रास अलङ्कार है।

वर्णानुप्रास– पद्य के पादों (चरणों) में अथवा पदों में यदि पहले अनुभव किये गये संस्कार को उद्बोधित करने वाली और समीपस्थ समान व्यञ्जन वर्णों की आवृत्ति होती है, तो वह अनुप्रास वर्णानुप्रास कहलाता हैं। यह अनुप्रास दो प्रकार का होता है– पादगत और पदगत । पादगत जैसे–

चन्द्रे शरन्निशोत्तंसे कुन्दस्तबकसन्निभे ।
इन्द्रनीलनिभं लक्ष्म सन्दधात्यलिन: श्रियम् ।। (१.५६)

इस पद्य के प्रत्येक चरणों में क्रमश चन्द्र, कुन्द, इन्द्र, सन्द में नकार और दकार की आवृत्ति हुई है। इस पद्य के प्रत्येक चरणों में क्रमश: चन्द्र, कुन्द, इन्द्र, सन्द में नकार और दकार की आवृत्ति हुई है अत: यहाँ पादगत वर्णानुप्रास है।

पदगत जैसे–

चारु चन्द्रमसं भीरु बिम्बं पश्यैतदम्बरे ।
मन्मनो मन्मथाक्रान्तं निर्दयं हन्तुमुद्यत: ।। (१.५६)

इस पद्य के प्रथम चरण में चारु, चान्द्र, भीरु में च और रु वर्ण की तथा द्वितीय चरण में बिम्ब, अम्बरे में मकार और बकार की आवृत्ति हुई है अत: यहाँ पदगत वर्णानुप्रास अलङ्कार है।

पदविषयक आवृत्ति यमक नामक अलङ्कार होती है किन्तु यह अलङ्कार सभी परिस्थितियों में मधुरता का पोषक नहीं होता ।

यद्यपि सभी अलङ्कार प्रतिपाद्य विषय में मधुरता को परिपुष्ट करते हैं तथापि अग्राम्यता (ग्राम्यत्व-दोष-रहितता) माधुर्य रस को परिपुष्ट करती है अर्थात् ग्राम्यतादोष मधुरता को विनष्ट कर देता है।

ग्राम्यता दोष

ग्रामीण (असभ्य) लोगों द्वारा व्यवहृत शब्द का प्रयोग करना ग्राम्यता दोष कहलाता है। इसके विपरीत उसी अर्थ में शिष्ट लोगों द्वारा व्यवहृत अनुशासित शब्दों का

प्रयोग करना अग्राम्यता है। केवल अलङ्कार माधुर्य गुण के पोषक नहीं होते, उसमें ग्राम्यता दोष भी नहीं होना चाहिए। ग्राम्यता दो प्रकार की होती है– अर्थगत ग्राम्यता तथा शब्दगत ग्राम्यता।

इसके अतिरिक्त वाक्य पदों की सन्धि के कारण अथवा वाक्य के अर्थ के कारण अश्लील अर्थ की प्रतीति कराने वाले वाक्य भी ग्राम्यता-दोष युक्त माना जाता है। जैसे– 'या भवत: प्रिया' (१.६६) यहाँ वाक्य का अर्थ है जो आप की प्रियतमा है किन्तु पदसन्धान होकर 'याभवत: प्रिया' अर्थात् निरन्तर सम्भोग में रत रहने वाले की प्रिया है– इस अशिष्ट अर्थ की भी प्रतीति होती है।

वाक्यार्थ विशेष में भी ग्रामत्व दोष होता है। जैसे- ''खरं प्रविश्य विश्रान्ता पुरुषो वीर्यवान्'' अर्थात् खर नामक राक्षस को मारकर वीर पुरुष राम ने विश्राम किया किन्तु इसका अशिष्ट अर्थ भी प्रतिभासित होता है– रतिक्रीड़ा में गाढ़े वीर्य वाले पुरुष ने (अपने मदनध्वज द्वारा मानमन्दिर में अत्यधिक प्रहार करके (निर्वीर्य होकर) ढंडा पड़ गया है।

अर्थगत ग्राम्यता

वाच्य द्वारा अशिष्ट अर्थ का प्रयोग अर्थगत ग्राम्यता कहलाता है। जैसे– 'कन्ये कामयमानां मां न त्वं कामयते कथम्' । (१.६३) यहाँ कामभाव सम्भोग की इच्छा का द्योतक है। वाच्य अर्थ में इसको अभिव्यक्त करना लज्जास्पद होता है। यहाँ वाच्य के द्वारा काम भाव को प्रकट किया गया है अत: अर्थगत ग्राम्यता है।

अर्थगत अग्राम्यता

अश्लील शब्दों के प्रयोग से रहित तथा शिष्ट पदों के प्रयोग से व्यञ्जित अर्थ-ग्रामत्वदोष से रहित अर्थात् अग्राम्य होता है। जैसे– कामं कन्दर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निष्ठुर: । त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्या (१.६४) यहाँ 'कामदेव मुझ पर कठोर हो गया है' से व्याञ्जित हो रहा है कि नायक अत्यन्त कामातुर और सुरत के लिए तत्पर है तथा तुम्हारे प्रति कामदेव क्रोधरहित हैं से व्यञ्जित हो रहा है कि नायिका कामातुरा नहीं है, अत: सुरत के लिए तैयार नहीं है। अश्लील अर्थ का अभिधा द्वारा कथन न होकर व्यञ्जना द्वारा अश्लील अर्थ की प्रतीति हो जा रही है अत: यहाँ ग्राम्यत्व का अभाव अर्थात् अग्राम्यत्व है।

श.ब्दगतग्राम्यता

असभ्य लोगों द्वारा प्रयुक्त अश्लील शब्दों का प्रयोग करना शब्दगत ग्राम्यता कहलाता है। जैसे- रतिक्रीड़ा के वर्णन के प्रसङ्ग में मैथुन अर्थ में प्रयुक्त यकार से प्रारम्भ

होने वाली यभ धातु से निष्पन्न यभ, याभ, यभन इत्यादि शब्दों का प्रयोग अश्लील है।

कतिपय स्वीकृत ग्राम्यत्व पद

भगिनी, भगवती इत्यादि पद यद्यपि अशिष्टार्थ-बोधक-योनि वाचक भग शब्द से बने हैं फिर भी सभी प्रकार के काव्यों में लोकसम्मत होने के कारण स्वीकार किये गये हैं।

५. सौकुमार्य (सुकुमारता गुण)

कोमल वर्णों की अधिकता वाला वाक्य सौकुमार्यगुण समन्वित माना जाता है। केवल कोमल वर्णों वाला बन्ध तो शैथिल्य दोष-युक्त होता है अर्थात् सुकुमारता गुण-युक्त बन्ध में कठोर वर्णों की अपेक्षा कोमल वर्णों की अधिकता होनी चाहिए। कठोर वर्णों का अभाव नहीं होना चाहिए। जैसे–

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः ।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ।। (१.७०)

वर्गों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम स्पर्श तथा अन्तःस्थ– य, र, ल, व कोमल वर्ण कहलाते हैं। इससे अन्य सभी वर्ण कठोर वर्ण कहलाते हैं। इस उदाहरण में म, ण, ल, य इत्यादि कोमल वर्णों का प्रयोग कठोर वर्णों– ब, ह, ठ, ध की अपेक्षा अधिकता से हुआ है, अतः सुकुमारता नामक गुण है। यह वैदर्भ मार्ग वालों को अधिक अभीष्ट है किन्तु गौडीय मार्ग वाले दीप्तिमान् अर्थ वाले परुष-बन्ध को प्रचुरता से स्वीकार करते है अर्थात् वे ऐसे बन्ध को स्वीकार करते हैं जिसमें अर्थ-चमत्कार हो तथा कठोर वर्णों की अधिकता हो।

६. अर्थव्यक्ति-गुण

अन्य पद के अध्याहार के विना (अनेयता) से अर्थ का अभिव्यक्त हो जाना अर्थ-व्यक्ति गुण कहलाता है। जैसे– 'हरिणोद्धृता भूः खुरक्षुण्णनागासृतलोहितादुदधेः' अर्थात् वराहरूपधारी (विष्णु) के द्वारा खुरों से कुचलें गये (पाताल में रहने वाले) नागों के रक्त से रञ्जित लाल समुद्र से पृथ्वी बाहर निकाली गयी। इस पदावली में सागर के जल के लोहित होने का हेतु 'वराह के खुरों से कुचले गये सर्पो के रक्त का मिश्रित होना' शब्द से ही अभिव्यक्त हो जाने के कारण यहाँ उसके लिए किसी अन्य शब्द का अध्याहार नहीं करना पड़ता है अतः यहाँ अर्थव्यक्ति नामक गुण है।

७. औदार्य (उदारता) गुण

जिस पदावली (वाक्य) के उच्चारण से महनीयता सूचक गौरवपूर्ण धर्मविशेष अभिव्यक्त होता है, वह पदावली उदारता गुण वाली कही जाती है। जैसे–

अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत् ।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ॥ (१.७७)

इस उदाहरण में राजा के दान की उत्कृष्टता का वर्णन हुआ है, अतः यहाँ औदार्य गुण है।

औदार्य गुण के विषय में कतिपय आचार्यों के मत में अन्तर दृष्टिगोचर होता है। इसके अनुसार उत्कर्षाधायक विशेषणों वाले पद या वाक्य से संयोजित रचना भी औदार्यगुण सम्पन्न होती है। जैसे– लीलाम्बुज पद कमल के आकार और उत्कृष्टता का सूचक है।

८. ओजोगुण

समासयुक्त पदों की बहुलता वाला बन्ध ओजगुण सम्पन्न माना जाता है। इस प्रकार ओजगुण सम्पन्न रचना में समस्त पदों की अधिकता होती है। वैदर्भ मार्ग के अनुसार ऐसे पदों से गद्यकाव्य चमत्कृत हो जाता है किन्तु गौडीय मार्ग वाले गद्य और पद्य दोनों काव्यों में समासबहुलता को अभीष्ट मानते हैं।

ओजोगुण का विविधत्व

ओजगुण लम्बे और छोटे समासों की बहुलता, विरलता और मध्यम (दोनों के मिश्रण) की स्थिति के आधार पर विविध प्रकार का होता है। इस प्रकार ओजगुण छः प्रकार के होते हैं— (क) लम्बे समास वाले पदों की अधिकता (ख) लम्बे समास वाले पदों की विरलता (ग) लम्बे समास वाले पदों का सामान्य प्रयोग (घ) छोटे समास वाले पदों की अधिकता (ङ) छोटे समास वाले पदों की विरलता तथा (च) छोटे समास वाले पदों की सामान्य प्रयोग ।

ओजगुण-विषयक वैदर्भ और गौडीय अभिमत

यद्यपि दोनों सम्प्रदाय वाले ओज गुण को स्वीकार करते हैं, तथापि दोनों के समास-प्रायस्त्व में भेद है। वैदर्भ जन पद्य काव्य में स्पष्ट (सरल) अर्थ वाले लम्बे समास युक्त प्रयोग करते हैं; किन्तु गौडीयमार्गीय अस्पष्ट अर्थ वाले लम्बे समासयुक्त पदों को अभीष्ट मानते हैं।

९. कान्ति गुण

लोकव्यवहार का उलङ्घन न करते हुए प्रशंसात्मक वाक्यों का संयोजन कान्तिगुण कहलाता है। जैसे–

गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः ।
सम्भावयति यान्येवं पावनैः पादपांसुभिः ।। (१.८६)

इस पद्य में तपास्विजनों की चरण धूलि से गृहों के धन्य हो जाने का वर्णन लोकव्यवहार में प्रसिद्ध है, अतः इस प्रशंसात्मक वाक्य का संयोजन कान्तिगुण वाला है।

उपर्युक्त कान्तिगुण विषयक मत वैदर्भमार्गीयों का है। गौडीयजनों का मत अन्य प्रकार का है। उनके अनुसार ऐसी रचना कान्तिगुण-समन्वित मानी जाती है जिसमें प्रतिपाद्य वस्तु लोकव्यवहार का अतिक्रमण करने वाले के समान अत्यधिक काल्पनिक हो। जैसे–

देवाधिष्ण्यमिवाराध्यमद्यप्रभृति नो गृहम् ।
युष्मत्पादरजःपातधौतनिःशेषकल्मषम् ।। (१.९०)

यहाँ महात्माओं के चरणरज से घर का मन्दिर के समान पूजनीय हो जाना लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध न होने से पूर्णरूपेण काल्पनिक है अतः गौडीय लोगों के अनुसार यहाँ कान्ति गुण है।

१०. समाधि गुण

लोकव्यवहार की सीमा का अनुसरण करते हुए किसी वस्तु के गुण को तद्भिन्न वस्तु पर लाक्षणिक अर्थ में भली-भाँति आरोपित करना समाधि गुण कहलाता है। जैसे– "कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च" (१.९४)। इस उदाहरण में कुमुदिनी के सङ्कुचित होने तथा कमल के खिलने पर नेत्रव्यापार-कार्य के वाचक शब्द क्रमशः निमीलन तथा उन्मीलन का आरोप हुआ है, अतः यहाँ समाधि गुण है।

लक्षणावृत्ति में प्रयुक्त ग्राम्य शब्द भी रमणीय होते हैं। जैसे- निष्ठ्यूत (थूका गया), उद्गीर्ण (उगला गया), वान्त (वमन किया गया) आदि शब्द ग्राम्य है किन्तु इन शब्दों का प्रयोग लक्षणा अर्थ में अन्य वस्तु के गुण पर आरोपित किया जाता है तो वह अभीष्ट होता है। जैसे–

पद्मान्यर्कांशुनिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः ।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः ।।

यहाँ निष्ठ्यूत शब्द का लाक्षणिक अर्थ निकलना, उद्गीर्ण का गिराना और वमन्ति का बाहर निकालना है, अतः समाधि गुण है।

अनेक धर्मों (गुणों) का एक साथ किसी अन्य वस्तु पर आरोप भी समाधि गुण कहलाता है। जैसे-

गुरुगर्भभरक्लान्ताः स्तनन्त्यो मेघपङ्क्तयः ।
अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमाः समधिशेरते ॥ (१.९८)

यहाँ सहेली की गोद में सोना, आर्त्तरोदन करना, गर्भभार की गुरुता का अनुभव करना, थकावट से उत्पन्न मन्दगतिता- इन गर्भवती स्त्री के गुणों का मेघमाला पर एकत्र आरोपण के कारण समाधि नामक गुण है।

वैदर्भ और गौडीय मार्ग में भेद

गुण-निरूपण के प्रसङ्ग में दण्डी ने दोनों मार्गों के भेद को स्पष्ट किया है, जो इस प्रकार है—

(१) वैदर्भमार्गीय जन अल्पप्राण अक्षरों की बहुलता अतः शिथिलतादोष से रहित रचना को अभीष्ट मानते है किन्तु गौडीय जन शैथिल्य दोषयुक्त रचना को भी अनुप्रास अलङ्कार से युक्त होने पर स्वीकार करते हैं। महाप्राण वर्णों से संयोजित रचना तो उन्हें अभीष्ट है ही ।

(२) वैदर्भमार्गीय लोग लोकप्रसिद्ध अर्थ वाले शब्दों का संयोजन अभीष्ट मानते हैं किन्तु गौडीयमार्गानुयायी निहितार्थ बोधक अप्रसिद्ध अर्थ वाले पदों के संयोजन को भी काव्य के रूप में स्वीकार करते हैं; अर्थात् अस्पष्टता (निहितार्थता) दोष होने पर भी काव्यत्व में हानि नहीं होती।

(३) वैदर्भमार्गियों के अनुसार रचना में बन्धवैषम्य अभीष्ट नहीं है। कोई पद्य मृदु, स्फुट या मिश्र रूप में से किसी एक ही प्रकार के बन्ध में होना चाहिए किन्तु गौडीय बन्धवैषम्य की चिन्ता नहीं करते। वे अलङ्कार के उत्कर्ष को विशेष महत्त्व देते हैं।

(४) वैदर्भजन श्रुत्यानुप्रास अलङ्कार वाली रचना को सरस मानते हैं किन्तु गौडीयजन वर्णानुप्रास वाले बन्ध को।

(५) वैदर्भ-मार्गानुयायी कोमल वर्णों की अधिकता वाली संरचना को अभीष्ट मानते हैं किन्तु गौडीय दीप्तिमान् अर्थवाले कठोरवर्णों से युक्त रचना को।

(६) वैदर्भ-मार्गीय जन गद्यकाव्य में ही लम्बे-लम्बे समायुक्त रचना को अभीष्ट मानते हैं पद्यकाव्य में तो समास-रहित अथवा छोटे समास वाले पदों का गुम्फन, किन्तु

वैदर्भ मार्ग वाले गद्यकाव्य के साथ पद्य काव्य में भी लम्बे समास-युक्त पदों का प्रयोग करते हैं।

(७) वैदर्भ मार्गीय अनुयायी लोकव्यवहार का उलङ्घन न करने वाले प्रशंसापरक पदावली को काव्य में मान्यता देते है किन्तु गौडीय वाले लोकव्यवहार का उलङ्घन करने वाली अत्यन्त काल्पनिक पदावली को काव्य में स्वीकार करते हैं।

काव्य के हेतु

दण्डी ने काव्यनिर्माण के तीन हेतुओं का निर्देश किया है– (१) नैसर्गिकी प्रतिभा, (२) विशाल और परिशुद्ध अध्ययन तथा (३) प्रगाढ अभ्यास। कवित्व के बीजभूत संस्कार-विशेष को नैसर्गिकी प्रतिभा कहा जाता है। यह प्रतिभा जन्मजात होने के कारण स्वाभाविक होती है। इस प्रतिभा के विना यदि तुकबन्दी से काव्य बन भी जाय तो वह उपहास योग्य हो जाता है। समस्त चराचर-जगत् के व्यवहारों, सम्पूर्ण शास्त्रों, पुरुषार्थ-चतुष्टय, महाकवियों के काव्यों, इतिहास-पुराणादि का सम्पूर्ण विशाल ज्ञान काव्य-निर्माण का दूसरा हेतु है। इन विषयों के ज्ञान के विना काव्य-रचना नहीं हो सकती। इनके ज्ञान के लिए आलस्य छोड़कर परिश्रम करना चाहिए। काव्य की रचना और उनकी विवेचना के ज्ञाता (कवि) द्वारा नवीन रचना के लिए बार-बार प्रवृत्त होना अभ्यास कहलाता है। इन तीनों कारणों की समष्टि काव्य-निर्माण तथा उसकी उत्कृष्टता में हेतु होती है।

काव्य-निर्माण में तीन हेतुओं को बतलाया गया है– नैसर्गिकी प्रतिभा, परिशुद्ध अध्ययन और अभ्यास। पूर्वजन्म की वासना वाले संस्कार-विशेष (वासना-गुण) में उत्पन्न अलौकिक प्रतिभा के अभाव होने पर भी काव्यशास्त्रादि के अध्ययन और काव्यनिर्माण के लिए किये गये बार-बार के अभ्यास से काव्य-रचना की जा सकती है। यद्यपि काव्य-निर्माण में तीन हेतुओं का होना आवश्यक है इसके अभाव में काव्य-निर्माण होना असम्भव है, किन्तु काव्य-निर्माण की नैसर्गिकी प्रतिभा न हो तो भी शास्त्राध्ययन और काव्य-रचना के लिए प्रयत्न करने पर काव्य-रचना हो सकती है। इसलिए काव्य-यश के इच्छुक लोगों को आलस्य-रहित होकर परिश्रमपूर्वक अध्ययन करना चाहिए।

द्वितीय परिच्छेद

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद में काव्य के स्वरूप, उसके गुणों और हेतुओं का निरूपण करने के पश्चात् द्वितीय परिच्छेद में काव्यशरीर को अलङ्कृत करने वाले धर्म-विशेष अलङ्कारों का निरूपण किया गया है– काव्य के शोभाधायक धर्म-विशेष को अलङ्कार कहा जाता है— **काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते** (२.१)।

यद्यपि अलङ्कारों के विविध रूपों और उनके भेदोपभेद की नई-नई उद्भावनाओं के आधार पर अलङ्कारों के विविध भेद स्वीकार कर लिए जाते हैं। वस्तुतः काव्यशास्त्र में अलङ्कारों के विविध रूपों और उनके भेदोपभेद की कल्पना करने से दिन प्रतिदिन नये-नये अलङ्कारों की उद्भावनाएँ हो रहीं हैं। इस प्रकार इन अलङ्कारों की सङ्ख्या इतनी असीमित हो सकती हैं कि सभी का निरूपण नहीं किया जा सकता। विकल्पों के आधार पर उद्भावित अलङ्कारों की विविधता का निरूपण यद्यपि पूर्णरूपेण असम्भव है तथापि दण्डी ने पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा बीजरूप में निरूपित अलङ्कारों को बतलाने का प्रयास किया है।

प्रथम परिच्छेद में वैदर्भ और गौड़ीय मार्ग के भेद को स्पष्ट करते समय माधुर्य गुण निरूपण के प्रसङ्ग में श्रुत्यनुप्रासादि शब्दालङ्कारों का निरूपण किया जा चुका है। उन अलङ्कारों से अन्य अलङ्कारों का स्पष्टीकरण द्वितीय परिच्छेद में तथा यमक अलङ्कार का निरूपण तृतीय परिच्छेद में किया गया है। वस्तुतः मार्गभेद निरूपण के प्रसङ्ग में निरूपित अलङ्कार गुण हैं जिन्हें मार्ग विशेष के उपकारक के रूप में अलङ्कार कहा गया है। वे अलङ्कार गौड़ीय मार्ग वालों की विशेषरूप से अभिमत हैं। उन अलङ्कारों के होने पर गौड़ीय जन बन्धशैथिल्य इत्यादि दोषों को भी उपेक्षित कर देते हैं अतः उन्हें विशिष्ट श्रेणी में रखा गया है। इन अलङ्कारों से अन्य साधारण अलङ्कार जो दोनों मार्गानुयायियों को मान्य है उनका निरूपण यहाँ किया गया है।

निरूपित अलङ्कार— दण्डी ने अनुप्रास को अलङ्कार की विशिष्ट श्रेणी में रख कर उसका विवेचन वैदर्भ और गौडीयमार्गद्वय के भेद-निरूपण के प्रसङ्ग में स्पष्ट कर दिया है। इसके अतिरिक्त अन्य अलङ्कारों को सामान्य अलङ्कार की कोटि में रखते हुए अर्थालङ्कारों का विवेचन द्वितीय परिच्छेद में तथा अनुप्रास से भिन्न शब्दालङ्कार यमक का निरूपण तृतीय परिच्छेद में किया है। दण्डी द्वारा द्वितीय परिच्छेद में निरूपित अलङ्कारों की सङ्ख्या पैंतीस हैं। वे अलङ्कार ये हैं— (१) स्वभावोक्ति, (२) उपमा, (३) रूपक, (४) दीपक, (५) आवृत्ति, (६) आक्षेप, (७) अर्थान्तरन्यास, (८) व्यतिरेक, (९) विभावना, (१०) समासोक्ति, (११) अतिशयोक्ति, (१२) उत्प्रेक्षा, (१३) हेतु, (१४) सूक्ष्म, (१५) लेश, (१६) यथासङ्ख्य, (१७) प्रेय, (१८) रसवत्, (१९) ऊर्जस्वी, (२०) पर्यायोक्त, (२१) समाहित, (२२) उदात्त, (२३) अपह्नुति, (२४) श्लेष, (२५) विशेषोक्ति, (२६) तुल्ययोगिता, (२७) विरोध, (२८) अप्रस्तुत-प्रशंसा, (२९) व्याजस्तुति, (३०) निदर्शना, (३१) सहोक्ति, (३२) परिवृत्ति, (३३) आशीः, (३४) संसृष्टि और (३५) भाविक।

(१) स्वभावोक्ति— जिस अलङ्कार में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में स्थित पदार्थों के

रूप का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन किया जाता है अर्थात् जहाँ किसी वस्तु की अनेक अवस्थाओं का ऐसा सजीव स्वाभाविक वर्णन होता जिससे उसका प्रत्यक्ष दर्शन सा होने लगे, वह स्वभावोक्ति अलङ्कार कहा जाता है। स्वभावोक्ति अलङ्कार को जाति अलङ्कार भी कहा जाता है। दण्डी ने जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के आधार पर स्वभावोक्ति को चार भेदों में बाँटकर उन भेदों को सोदाहरण स्पष्ट किया है।

(२) उपमा— जिस कथन में दो पदार्थों में समानता प्रतीत होती है, वह उपमा अलङ्कार कहलाता है। उपमा के उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक– ये चार अङ्ग होते हैं। जिससे समानता की जाती है वह उपमान तथा जिसकी समानता की जाती है उसे उपमेय कहा जाता है। उपमान और उपमेय में विद्यमान समान धर्म, जिसके कारण समानता प्रतीत होती है वह साधारण धर्म कहा जाता है तथा जिस शब्द से समानता निर्दिष्ट की जाती है वह वाचक कहलाता है। जैसे– **'कमलमिव मुखं मनोज्ञम्'** में कमल उपमान, मुख उपमेय, मनोज्ञता धर्म तथा इव वाचक है। जिस उपमा में उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा वाचक– ये चारों अङ्ग विद्यमान होते हैं वह पूर्णोपमा कहलाता है। यह ज्ञातव्य है कि उपमान और उपमेय के साधारण धर्म में भेद होता है किन्तु उपमा में धर्म में भेद होते हुए भी अभेद की प्रतीति होती है। जैसा कि मम्मट ने स्पष्ट किया है– **'साधर्म्यमुपमा भेदे'**।

दण्डी ने उपमा के इन बत्तीस भेदों का निरूपण किया है— (१) धर्मोपमा, (२) वस्तूपमा, (३) विपर्यासोपमा, (४) अन्योन्योपमा, (५) नियमोपमा, (६) अनि-यमोपमा, (७) समुच्चयोपमा, (८) अतिशयोपमा, (९) उत्प्रेक्षितोपमा, (१०) अद्भुतोपमा, (११) मोहोपमा, (१२) संशयोपमा, (१३) निर्णयोपमा, (१४) श्लेषोपमा, (१५) समानोपमा, (१६) निन्दोपमा, (१७) प्रशंसोपमा, (१८) आचिख्यासोपमा, (१९) विरोधोपमा, (२०) प्रतिषेधोपमा, (२१) चटूपमा, (२२) तत्त्वाख्यानोपमा, (२३) साधारणोपमा, (२४) अभूतोपमा, (२५) सम्भावितोपमा, (२६) बहूपमा, (२७) विक्रियोपमा, (२८) मालोपमा, (२९) वाक्यार्थोपमा, (३०) प्रतिवस्तूपमा, (३१) तुल्ययोगोपमा और (३२) हेतूपमा। इन भेदों का व्याख्यान ग्रन्थ में द्रष्टव्य है।

उपमाविषयक दोष का निराकरण— जिस उपमा में सहृदयों का उद्वेग (वैरस्य) न होता हो वहाँ उपमेय तथा उपमान के अलग-अलग लिङ्ग और वचन तथा हीनता और अधिकता उपमा को दूषित नहीं करते। दण्डी ने उपमेय और उपमान के लिङ्गभेद, वचनभेद, उपमान की हीनता और अधिकता को वैरस्यकारण न होने पर दोष नहीं माना है। उपमा में उपमेय के लिङ्ग और उपमान के लिङ्ग भेद होने पर अर्थात् उपमेय एकलिङ्ग में और उपमान उससे भिन्न लिङ्ग में प्रयुक्त होता है तो वह लिङ्ग भेद दोष

कहलाता है। इसी प्रकार उपमेय और उपमान के वचन में भेद को वचन-भेद कहा जाता है। कहीं-कहीं उपमान उपमेय की उपेक्षा न्यून गुण वाला होता है तो वह हीनता दोष होता है और कहीं-कहीं उपमान उपमेय से अधिक गुण वाला होता है, वह अधिकता दोष कहलाता है। दण्डी के अनुसार ये दोष तभी दोष होते हैं जब ये सहृदय के मन में विरसता को उत्पन्न करते हैं, अन्यथा इन दोषों से उपमा दूषित नहीं होती।

उपमा के वाचक— इव, तत् (प्रत्ययान्त शब्द) वा, यथा, समान, सन्निभ, तुल्य, सङ्काश, नीकाश, प्रकाश, प्रतिरूप, प्रतिद्वन्द्व, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृश, संवादि, सजातीय, अनुवादि, प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छन्द, सरूप, सम, सम्मित सलक्षण, सदृश, आम, सपक्ष, उपमित, उपम, कल्प, देशीय देश्य इत्यादि, प्रख्य और प्रतिनिधि, सवर्ण और तुलित– ये शब्द तथा तुल्यार्थवाचक उपमा के वाचक होते है। शशाङ्कवदना इत्यादि बहुव्रीहि समास वाले पद भी उपमावाचक होते हैं।

स्पर्धते (स्पर्धा करता है), जयति (जीतता है), द्वेष्टि (द्वेष करता है), द्रुह्यति (द्रोह करता है), प्रतिगर्जति (मुकाबला करता है), आक्रोशयति (आक्रोश करता है) अवजानाति (अवज्ञा करता है), कदर्थयति (तिरस्कार करता है), निन्दति (निन्दा करता है), विडम्बयति (उपहास करता है), सन्धत्ते (सुशोभित होता है), हसति (हँसता है), ईर्ष्यति (ईर्ष्या करता है), असूयति (असूया करता है)– ये क्रिया पद भी उपमा के वाचक होते हैं।

तस्य सौभाग्यं मुष्णाति (उसके सौभाग्य का हरण करता है), तस्य कान्तिं विलुम्पति (उसकी शोभा को विलुप्त करता है), तेन सार्ध विगृह्णाति (उसके साथ लड़ता है), तेन तुलाम् अधिरोहति (उसके साथ समानता करता है), तत्पदव्यां पदं धत्ते (उसके मार्ग पर चलता है), तस्य कक्ष्यां विगाहते (उसकी श्रेणी को प्राप्त करता है), तम् अन्वेति (उसका अनुसरण करता है), तच्छीलम् अनुबध्नाति (उसके स्वभाव का अनुसरण करता है), तन्निषेधति (उसका निषेध करता है), तस्य च अनुकरोति (और उसका अनुगमन करता है)– ये वाक्यांश सादृश्य-सूचक है।

(३) रूपक— वह उपमा रूपक कहलाती है जिसमें उपमेय और उपमान का भेद, उन दोनों में अतिशय सादृश्य दिखलाने के कारण तिरोहित हो जाता है। जैसे 'बाहुलता' में लता के समान बाहु– यह अर्थ विवक्षित है। इस उपमा के कथन में उपमेय बाहु तथा उपमान लता में परस्पर भेद स्पष्ट है किन्तु यदि इस उपमा को 'बाहुलता' अर्थात् 'बाहु लता है'– इस प्रकार कहने पर उपमान और उपमेय की भिन्नता तिरोहित हो जाती है। उपमेय और उपमान के अतिशय सादृश्य को दिखलाने के लिए दोनों के बीच की भिन्नता का तिरोहित हो जाना ही रूपक अलङ्कार है।

वस्तुतः उपमा और रूपक एक ही अलङ्कार के दो रूप है। उपमा अलङ्कार में उपमेय और उपमान अलग-अलग होने से दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। किन्तु रूपक अलङ्कार में उपमेय और उपमान की भिन्नता तिरोहित रहती है। उपमेय तथा उपमान का यह अभेद वास्तविक नहीं प्रत्युत शाब्दिक ही होता है।

रूपक के भेद– दण्डी ने रूपक के बीस भेदों को कहा है जो ये हैं– (१) समस्तरूपक, (२) असमस्तरूपक, (३) समस्तव्यस्तरूपक, (४) सकलरूपक, (५) अवयवरूपक, (६) अवयविरूपक, (७) एकाङ्गरूपक, (८) युक्तरूपक, (९) अयुक्तरूपक, (१०) विषमरूपक, (११) सविशेषणरूपक, (१२) विरुद्धरूपक, (१३) हेतुरूपक, (१४) श्लिष्टरूपक, (१५) उपमारूपक, (१६) व्यतिरेकरूपक, (१७) आक्षेपपक, (१८) समाधानरूपक, (१९) रूपकरूपक और (२०) तत्त्वापहन्वयरूपक। इन भेदों का स्पष्टीकरण रूपक अलङ्कार के प्रसङ्ग में किया गया है।

(४) दीपक— श्लोक के एक स्थान आदि, मध्य या अन्त में स्थित जाति, क्रिया, गुण या द्रव्यवाचक शब्द का यदि श्लोक के सभी वाक्यों से सम्बन्ध (अन्वय) हो कर उपकार होता है तो वह दीपक अलङ्कार कहलाता है। जिस प्रकार एक स्थान पर रखा गया दीपक पूरे घर को प्रकाशित करता है। उसी पर श्लोक में एक स्थान पर विद्यमान शब्द श्लोक के सभी वाक्यों से सम्बन्धित होकर अर्थ-प्रकाशन करता है। इस अलङ्कार में एक साथ अनेक वाक्यों के साथ सम्बन्ध होने के कारण उन वाक्यों में परस्पर सादृश्य व्यक्त होता है। कहीं यह सादृश्य चारु होता है तो कहीं वार्त्ता मात्र। इसीलिए दण्डी ने इसे भरत के समान प्रधान सादृश्य वाली उपमा और गौण सादृश्य वाले रूपक के बाद स्थान दिया है।

दण्डी के अनुसार दीपक बारह प्रकार के होते हैं। दीपन करने वाले शब्दों के अर्थगत– जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से दीपक चार प्रकार का होता है। पुनः वाक्य में इनके प्रयोग स्थान– आदि, मध्य और अन्त के भेद से प्रत्येक के तीन भेद हो जाते हैं। इस प्रकार दीपक के कुल भेदों की सङ्ख्या बारह हो जाती है। इनके अतिरिक्त दण्डी ने मालादीपक, विरुद्धदीपक, एकार्थदीपक, श्लिष्टदीपक का निदर्शन दिया है तथा इसी प्रकार अन्य दीपक के प्रभेदों को भी समझ लेने की बात कहा है। इस प्रसङ्ग में रत्नश्री ज्ञान ने उपमादीपक, उत्प्रेक्षादीपक, आक्षेपदीपक की सोदाहरण व्याख्या किया है। इसके स्पष्टीकरण के लिए ग्रन्थ को देख लेना चाहिए।

(५) आवृत्ति— आवृत्ति भी दीपकजातीय अलङ्कार है। दीपक में एक स्थान पर प्रयुक्त एक ही शब्द का अनेक वाक्यों से सम्बन्ध होता है किन्तु आवृत्ति अलङ्कार में अर्थ, पद अथवा दोनों– अर्थ और पद की प्रत्येक वाक्य में आवृत्ति होती है। यही दीपक और आवृत्ति अलङ्कार का भेद है।

प्रत्येक वाक्य में अर्थ, पद अथवा दोनों की आवृत्ति के आधार पर आवृत्ति अलङ्कार तीन प्रकार का होता है– अर्थावृत्ति, पदावृत्ति और उभयावृत्ति। अर्थावृत्ति में प्रत्येक वाक्य में अर्थ की, पदावृत्ति में पद की तथा उभयावृत्ति में अर्थ और पद– दोनों की आवृत्ति होती है। दण्डी ने सोदाहरण इनकी व्याख्या किया है।

(६) आक्षेप— अभिधान की इच्छा से अभीष्ट वस्तु के प्रतिषेध द्वारा कथन (प्रतिषेधाभास निषेधाभास) को आक्षेप अलङ्कार कहा जाता है। दण्डी के अनुसार काल के आक्षेप अलङ्कार तीन प्रकार का होता है– वृत्ताक्षेप, वर्तमानाक्षेप और भविष्य-दाक्षेप। क्योंकि प्रतिषेध कथन भूत, वर्तमान और भविष्य– इन त्रिकालिक पदार्थों का होता है। चूँकि प्रतिषेध्य पदार्थों के अनन्त (अगणित) प्रकार होते हैं इसलिए पदार्थों की अनन्तता के आधार पर इस आक्षेपालङ्कार के भेदों की सङ्ख्या भी अनन्त होती है। इस सन्दर्भ में दण्डी ने आक्षेप के धर्माक्षेप, धर्म्याक्षेप, कारणाक्षेप, कार्याक्षेप, अनुज्ञा-क्षेप, प्रभुत्वाक्षेप, अनादराक्षेप, आशीर्वचनाक्षेप, परुषाक्षेप, साचिव्याक्षेप, यत्नाक्षेप, परजशाक्षेप, उपायाक्षेप, रोषाक्षेप, मूर्च्छाक्षेप, अनुक्रोशाक्षेप, श्लिष्टाक्षेप, अनुशयाक्षेप संशयाक्षेप, अर्थान्तराक्षेप, हेत्वाक्षेप प्रभेदों की सोदाहरण व्याख्या करके इसी प्रकार से अन्यान्य भेदों को भी समझ लेने का निर्देश दिया है।

(६) अर्थान्तरन्यास— अर्थान्तरन्यास का अर्थ है,– अन्य अर्थ का उपन्यास। जिस अलङ्कार में किसी विवक्षित पदार्थ को कह कर उसे सिद्ध करने में समर्थ अन्य पदार्थ का कथन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलङ्कार कहलाता है। इन दोनों पदार्थों में सादृश्य आवश्यक नहीं है। समानता हो भी सकती है और नहीं भी, किन्तु साध्य साधनभाव होना आवश्यक है।

सामान्यतः इस अलङ्कार में समर्थ्य का उपन्यास पहले होता है तथा समर्थक अर्थान्तर का उपस्थापन बाद में– दण्डी के कथन से इसी तथ्य का उद्घाटन होता है। किन्तु सरस्वती कण्ठाभरण के अनुसार समर्थक अर्थान्तर का न्यास पहले भी सम्भव है।

अर्थान्तरन्यास के भेद— दण्डी ने अर्थान्तरन्यास के आठ भेदों की सोदाहरण व्याख्या किया है, वे ये हैं– विश्वव्यापी, विशेषस्थ, श्लेषाविद्ध, विरोधवान्, अयुक्त-कारी, युक्तात्मा, युक्तायुक्त और युक्तायुक्त का विपर्यय। जिस अर्थान्तरन्यास में समर्थन अन्य अर्थ सर्वव्यापी होता है वह सर्वव्यापी अर्थान्तरन्यास कहलाता है तथा जिसमें समर्थन समर्थ अर्थ सामान्य नहीं प्रयुक्त विशेषस्थ होता है वह विशेषस्थ अर्थान्तरन्यास कहलाता है। जहाँ विवक्षित अर्थ के समर्थन में उपस्थापित अर्थान्तर में श्लिष्टपद प्रयुक्त होता है, वह श्लेषाविद्ध अर्थान्तरन्यास तथा जहाँ परस्परविरुद्ध अर्थ को प्रस्तुत करके उसका समर्थन परस्पर विरुद्ध अर्थान्तर से किया जाता है, वह विरोधवान् अर्थान्त-

रन्यास कहा जाता है। जिस अर्थान्तरन्यास में अयुक्त पदार्थ का समर्थन अयुक्तकारी पदार्थ से किया जाता है वह अयुक्तकारी अर्थान्तरन्यास होता है। जहाँ लोक में अप्रसिद्ध अत एव अनुपपन्न समर्थ्य पदार्थ की युक्तात्मता (उपपन्नता) का समर्थन अर्थान्तर से किया जाता है, वह युक्तात्मा नामक अर्थान्तरन्यास है। जहाँ विवक्षित उचित पदार्थ का अनुचित अर्थान्तर द्वारा समर्थन होता है वह युक्तायुक्त अर्थान्तरन्यास होता है तथा जहाँ अयुक्त (अनुचित) वस्तु का युक्त (उचित) वस्तु (अर्थ) से समर्थन किया जाता है वह युक्तायुक्त का विपर्यय अर्थात् अयुक्तयुक्त अर्थान्तरन्यास होता है।

(८) व्यतिरेक— विवक्षित दो वस्तुओं (उपमेय और उपमान) की समानता जब शब्द द्वारा अभिहित अथवा लक्षणा या पूर्वापर प्रसङ्ग से प्रतीत हो तो उन दोनों (उपमेय और उपमान) में उपमेय के उत्कर्ष के लिए जो भेद (पृथकता) का प्रतिपादन किया जाता है, वह व्यतिरेक अलङ्कार कहलाता है।

दण्डी ने इस अलङ्कार को (क) सादृश्य की शब्दोपात्तता तथा प्रतीयमानता (ख) एकत्रवर्ती तथा उभयत्रवर्ती धर्मकथन (ग) भेदमात्र-कथन तथा उत्कर्ष-कथन (घ) उपमेय और उपमान की सजातीयता तथा विजातीयता (ङ) अन्यश्लेषादि अलङ्कारों के के सङ्कर के आधार पर विभाजित किया है। इस विषय में उन्होंने शब्दोपात्त एकव्यतिरेक, उभयत्र-व्यतिरेक, सश्लेषव्यतिरेक, सापेक्षव्यतिरेक, सहेतुव्यतिरेक, उक्तिमूलक प्रतीयमान-व्यतिरेक, आधिक्यदर्शनमूलक प्रतीयमानव्यतिरेक, शब्दोपात्त सादृश्यमूलक व्यतिरेक, प्रतीयमान सादृश्य सदृशव्यतिरेक, सजातिव्यतिरेक की सोदाहरण व्याख्या किया है।

(९) विभावना— किसी कार्य के जनक अथवा व्यापक रूप से प्रसिद्ध कारण का निषेध करके जब किसी अन्य कारण की स्वाभाविकता (स्वभाव-सिद्धता) की विशिष्टभावना (विशेष कल्पना) की जाती है तो वह विभावना अलङ्कार कहलाता है। इसमें कारणान्तर अथवा स्वाभाविकता वाच्य अथवा गम्य दोनों हो सकती है किन्तु प्राय: गम्य (प्रतीत) ही होती है। इस अलङ्कार के मूल में अतिशयोक्ति होती है किन्तु कारणान्तर अथवा स्वाभाविकता की प्रधानता होने के कारण विभावना (विशेष कल्पना) ही मुख्य होती है। इस प्रकार इसमें सादृश्य गौण तथा व्यङ्गार्थ ही मुख्य होता है। यही कारण है कि शाब्द या आर्थ होने के कारण पुष्टतर सादृश्य वाले व्यतिरेक के पश्चात् इसको स्थान दिया गया है।

परवर्ती आचार्यों ने इस अलङ्कार का अधिक स्पष्ट लक्षण दिया है। उनके अनुसार कारण के विना ही कार्य की उत्पत्ति हो जाने का कथन विभावना कहलाता है। जैसा कि विश्वनाथ ने कहा है– 'विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते' इति (सा०द० १०.६६)।

(१०) समासोक्ति— जहाँ किसी वस्तु को अभिप्राय (उद्देश्य), में रखकर उसको

व्यक्त करने की इच्छा से उस वस्तु की समानता वाली किसी अन्य वस्तु का संक्षिप्त रूप से अभिधान किया जाता है, तो वह समासोक्ति अलङ्कार कहलाता है। इस लक्षण के अनुसार अप्रस्तुत उपमान का कथन और उससे प्रस्तुत उपमेय की प्रतीति समासोक्ति होती है। एक के कथन से उपमान तथा उपमेय का अभिधान संक्षेप है। संक्षेप और समास दोनों समान अर्थ वाले हैं। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों में से एक के कथन से दूसरे की प्रतीति होना समासोक्ति कहलाता है। दोनों में से एक का शब्द कथन होने पर दूसरे में उत्पन्न शाब्दबोध एक विशिष्ट चमत्कार को उत्पन्न करता है अत: यह समासोक्ति की अलङ्कारता है अर्थात् चमत्कारजनक होने के कारण समासोक्ति अलङ्कार है।

समासोक्ति अलङ्कार दो प्रकार का होता है– तुल्याकार-विशेषणा और भिन्नाभिन्न-विशेषणा। विशेष्य मात्र के भिन्न होने पर भी श्लिष्ट पदों के कारण जिस विशेषोक्ति में विशेषणों का स्वरूप समान होता है वह तुल्याकार-विशेषणा (समान स्वरूप वाले विशेषणों से युक्त) समासोक्ति कहलाती है और जिस समासोक्ति में कुछ विशेषण श्लिष्टपद के प्रयोग न होने के कारण भिन्न आकार वाले होते हैं और कुछ विशेषण श्लिष्ट पद के प्रयोग के कारण समान (अभिन्न) स्वरूप वाले होते हैं वह भिन्नाभिन्न-विशेषणा (समान और असमान स्वरूप वाले विशेषणों से युक्त) समासोक्ति कहलाती है। समान स्वरूप वाले और असमान स्वरूप वाले विशेषणों की सत्ता श्लिष्टपदों पर आश्रित होती है। श्लिष्ट पदों के प्रयोग से विशेषण समान स्वरूप वाले तथा अश्लिष्ट पदों के प्रयोग से विशेषण भिन्न स्वरूप वाले होते हैं।

(११) अतिशयोक्ति— जिस अलङ्कार में लोक-मर्यादा (लोक-व्यवहार) का उलङ्घन करके किसी वस्तु की उत्कृष्टता के अतिशय का कथन किया जाता है, वह अतिशयोक्ति अलङ्कार कहलाता है। अतिशयोक्ति का अर्थ है– अत्यधिक उत्कर्षयुक्त कथन, अतिशय कथन। अन्य अलङ्कारों में जहाँ व्यङ्ग्य होता है वहीं इस अलङ्कार में वाच्य बनाकर उससे प्रस्तुत वस्तु के अत्यधिक उत्कर्ष को व्यक्त किया जाता है। अन्य अलङ्कारों में उत्कर्ष की विवक्षा में लोक की मर्यादा और सम्भाव्यताओं (प्रसिद्धियों) का उल्लङ्घन नहीं होता, इसलिए वे अतिशयोक्ति नहीं कहलाते किन्तु जहाँ लोक-सीमा का अतिक्रमण होता है, वे अलङ्कार अतिशयमूलक हैं।

परवर्ती आचार्यों ने दण्डी की विशेष-विवक्षा को और अधिक निश्चित सीमाओं में बाँधा है अत: उसका लक्षण परिसीमित और परिष्कृत रूप में दिया है। मम्मट के अनुसार उपमान द्वारा उपमेय के निगरण के परिणामस्वरूप दोनों का अभेद कथन अतिशयोक्ति है (द्रष्टव्य: का०प्र० १०.१००-१०१)।

अतिशयता मन की स्थितियों के उत्कर्ष की विवक्षा से भी कही जा सकती है।

आचार्य दण्डी ने सन्देह, निर्णय और विस्मय– इन मन की स्थितियों के उत्कर्ष वाली अतिशयोक्ति को सोदाहरण स्पष्ट किया है। जिस अतिशयोक्ति में सन्देह द्वारा उनकी अतिशयता का कथन होता है, वह संशयातिशयोक्ति कहलाती है। जिसमें सन्देह के निवारणरूप निर्णय के द्वारा वस्तु के अतिशय का कथन होता है, वह निर्णयातियोक्ति होती है तथा जिसमें आश्रय के अतिशय के प्रतिपादन द्वारा वस्तु के उत्कर्ष को प्रस्तुत किया जाता है, वह आश्रयातिशयोक्ति कहीं जाती है।

वाचिक अभिव्यक्ति दो प्रकार की होती है– स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। स्वभावोक्ति में वस्तु का कथन ज्यों का त्यों कर दिया जाता है और वक्रोक्ति में वस्तु को स्वभाव से हटकर कहा जाता है। लोक में सम्पूर्ण वाचिक अभिव्यक्ति प्राय: स्वभाव के आख्यान के रूप में होती है किन्तु काव्यमार्ग में सरलस्वभावाख्यान को भी ऐसे ढंग से प्रस्तुत किया जाता है जिससे कथन लोकोत्तर सा लगे। अपने कथन को देश, काल, स्वभाव और प्रसिद्धि की सीमाओं से दूर हटकर कहना अभिधान-प्रधान स्वभावाख्यान से लेकर गूढ़ व्यञ्जना तक में महत्त्वपूर्ण होता है। इस अतिशय अथवा वक्रोक्ति के विना स्व-भावाख्यान नहीं बन सकता। इसमें साधारणीकरण की सहत्त्वपूर्ण प्रक्रिया लोक-सीमा का अतिक्रमण ही है। अतिशय के बिना उपमा इत्यादि भी अलङ्कार की कोटि में नहीं आ पाते। इस प्रकार अतिशय का अलङ्कारों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(१२) उत्प्रेक्षा— जिस कथन में चेतन अथवा अचेतन वस्तु के स्वाभाविक गुणक्रियादिरूप व्यापार को अन्य प्रकार से कल्पित किया जाता है, वह उत्प्रेक्षा कहलाता है। उत्प्रेक्षा दो पदार्थों पर आधारित होती है– चेतन और अचेतन। इस आधार पर दण्डी ने उत्प्रेक्षा के भेदों को स्वीकार करके सोदाहरण व्याख्या किया है। जिस कथन में चेतन पदार्थ की स्वाभाविक-वृत्ति को उससे भिन्न वृत्ति के रूप में कल्पित किया जाता है, वह चेतनगतोत्प्रेक्षा होती है तथा जिस कथन में अचेतन पदार्थ की स्वाभाविक वृत्ति को उससे भिन्न वृत्ति के रूप में कल्पित किया वह अचेतन-गतोत्प्रेक्षा कहलाती है।

दण्डी ने नूतन कवियों को काव्यनिर्माण सीखने के लिए तथा नूतन काव्यालोचकों के सम्यक् ज्ञान के लिए उत्प्रेक्षा के व्यञ्जक पदों का समाम्नाय किया है। जिन शब्दों से किसी पदार्थ की अवस्था के स्थान पर दूसरी अवस्था की कल्पना की जाती है, वे सभी उत्प्रेक्षा व्यञ्जक शब्द हैं। यह कल्पना कवि द्वारा मानना, सोचना, शङ्का, निश्चय, प्रायो वृत्ति का अभिधान इत्यादि विविधरूपों में की जा सकती है। यद्यपि अन्यथास्थिति पदार्थ के अन्यथा प्रतिपादन से ही कवि की बुद्धि में विद्यमान कल्पना स्पष्ट हो जाती है फिर भी मैं मानता हूँ, मैं सोचता हूँ, मुझे शङ्का है, इत्यादि पदों के प्रयोग से कल्पना और अधिक स्पष्ट हो जाती है। अत: ये शब्द उत्प्रेक्षाव्यञ्जक कहलाते हैं।

(१३) हेतु— दण्डी ने हेतु अलङ्कार का लक्षण नहीं दिया है। वस्तुतः हेतु व्याकरण और दर्शन में प्रयुक्त कारण का पर्याय है। कारण के साथ कार्य अवश्य आएगा। किसी कार्य का इस प्रकार से वर्णन किया जाए अथवा उसकी प्रतीति होवे कि उससे उसके कारण का बोध हो जाए। इस कारण (हेतु) के बोध होने के कारण हेतु अलङ्कार होता है। हेतु का साध्य वाच्य या गम्य हो सकता है। दण्डी के उदाहरणों तथा व्याख्या को देखते हुए हेतु का यहीं लक्षण कल्पित होता है। कारण की प्रतीति कराने वाले वर्णन का स्वभावाख्यान के विपरीत वक्रता से युक्त होना इस अलङ्कार के लिए अन्य अलङ्कारों के समान आवश्यक है।

हेतु के भेद— दण्डी ने सर्वप्रथम हेतु को कारक और ज्ञापक– इन दो भेदों में बाँटा है। (१) कारक भेद के (i) भावकार्य वाला (क) भावात्मक (ख) अभावात्मक (ii) अभावकार्य वाला (क) भावात्मक और (ख) अभावात्मक हेतु– इस प्रकार चार रूप अभीष्ट है। (२) ज्ञापक भेद के उन्होंने केवल भावात्मक ज्ञाप्य वाले भावात्मक ज्ञापक के उदाहरण दिये हैं किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कारक के समान वे ज्ञापक के भी चार भेद स्वीकार करने के पक्षधर हैं। रत्नश्री ज्ञान ने अपनी टीका में इन भेदों की भी सोदाहरण व्याख्या किया है।

दण्डी ने कार्य के भी तीन भेद किये हैं– (i) निर्वर्त्य (ii) विकार्य और (iii) प्राप्य। इनमें से निर्वत्य कार्य का प्रदर्शन अधिक हुआ है। भावात्मक कारकहेतु के भावात्मक कार्य के तो तीनों उदाहरण दिये गये हैं किन्तु अभावात्मक कारकहेतु का निर्वर्त्य कार्य ही अभाव के प्रदत्त चार उदाहरणों में आया है।

इसके अतिरिक्त देश, काल और औचित्य के आधार पर भी दण्डी ने पाँच प्रकार के चित्रहेतु निरूपित करके नूतन दिशा का सङ्केत किया है।

(१४) सूक्ष्म— सङ्केत अथवा आकार द्वारा किसी प्रकार लक्षित किये गये निगूढ अर्थ को यदि असाधरण धर्म के द्वारा किसी दूसरे पर प्रकट किया जाता है तो वह सूक्ष्म अलङ्कार कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है– इङ्गितलक्ष्यार्थ सूक्ष्म और आकार-लक्ष्यार्थ सूक्ष्म।

(१५) लेश— गोप्य वस्तु (भेद) के प्रकट होने को किसी बहाने से छिपा लेने का वर्णन लेश अलङ्कार कहलाता है। यह अलङ्कार सूक्ष्म अलङ्कार का विपर्यय है। सूक्ष्म अलङ्कार में गूढ़ वस्तु का आकार या इङ्गित से प्रकाशन होता है। जबकि लेश में इस प्रकार प्रकाशित वस्तु का निगूहन होता है। परवर्ती आचार्यों ने व्याज (बहाने) से निगूहन होने के कारण उसे व्याजोक्ति अलङ्कार नाम से अभिहित किया है।

लेश-विषयक मतान्तर— दण्डी ने अपने मतानुसार लेश की सोदाहरण व्याख्या करने के पश्चात् आलङ्कारिक परम्परा में प्रसिद्ध लेश का एक अन्य स्वरूप भी बतलाया है। उस मतान्तर के अनुसार व्याज (बहाने) से निन्दा या प्रशंसा को लेश अलङ्कार माना जाता है। इस प्रकार उन आचार्यों के अनुसार लेश दो प्रकार का होता है- निन्दारूप लेश और प्रशंसारूप लेश। जहाँ प्रशंसा के बहाने से निन्दा व्यञ्जित होती है, वह निन्दालेश कहलाता है तथा जहाँ निन्दा के बहाने से प्रशंसा व्यञ्जित होती है वह प्रशंसालेश होता है।

(१६) यथासङ्ख्य— इस अलङ्कार में उद्देश्य (परिगणन) और अनूद्देश (पश्चाद्गणन) में क्रम से अन्वय (सम्बन्ध) विवक्षित होता है। यथासङ्ख्य का अर्थ है- सङ्ख्या के अनुसार अर्थात् पूर्व में गणित पदार्थों का इसके परिगणन क्रम में प्राप्त सङ्ख्या के अनुसार पश्चात् में गणित पदार्थों से सम्बन्ध व्यक्त होने के कारण यह अलङ्कार यथासङ्ख्य कहलाता है। गिनती (सङ्ख्या) से सम्बद्ध होने के कारण यह सङ्ख्यान तथा परिगणनों का क्रम से सम्बन्ध होने के कारण क्रम भी कहा जाता है। वस्तुतः यथासङ्ख्य के प्रयोजक तत्त्व सादृश्य का गम्य सत्त्व या असत्व नहीं है प्रत्युत समान सङ्ख्या वाले उद्दिष्ट और अनुदिष्ट पदार्थों में क्रम की विवक्षा है। अत: विवक्षित क्रम पदार्थों में साधर्म्य अथवा वैधर्म्य का उपादान और अनुपादान- दोनों यथासङ्ख्य के लिए अपेक्षित नहीं है।

(१७) प्रेयस्— अत्यन्त प्रीतिकारक कथन प्रेयस् कहलाता है। अर्थात् जिस कथन के होने से मन में सामान्य से अधिक प्रीति व्यक्त होती है ऐसे कथन प्रेयस् है। मन की प्रीति राग से सम्बद्ध है। राग दो प्रकार का होता है- (क) स्त्री-पुरुष का परस्पर राग रति कहलाता है। सृष्टि की उत्पत्ति और विकास में यह राग स्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है। स्थायी अवस्था को प्राप्त करने पर यह रसराज शृङ्गार कहलाता है। (ख) स्वभावतः चेतन अथवा कवि-प्रौढोक्ति से चेतन बने अन्य पदार्थों का परस्पर राग प्रीति है। इसका विषय नृपति, देवता, गुरुजन, मित्र, सम्बन्धीजन आदि होते हैं।

(१८) रसवत्— रस से युक्त वचन रसवत् कहलाता है। अलङ्कारों के प्रकरण में अलङ्कार्य के माध्यम अलङ्कारों को कहने से इन अलङ्कारों का विशिष्ट महत्त्व व्यक्त होता है। यह तत्त्व काव्य के शोभाकर तत्त्वों में सर्वोत्कृष्ट है अत: अलङ्कारों का राजा है। दण्डी ने इस अलङ्कार के प्रसङ्ग में शृङ्गार, रौद्र, वीर, करुण, वीभत्स, हास्य, अद्भुत और भयानक इन आठ रसों से युक्त रसवत् के आठ उदाहरणों को प्रस्तुत करके उनकी व्याख्या किया है।

(१९) ऊर्जस्वी— सामान्य चित्तवृत्ति की उद्रिक्त रूप में अभिव्यक्ति होने पर ऊर्जस्वी नामक अलङ्कार होता है। इसका आधार दर्प होता है। उसका आलम्बन अपने

से भिन्न शत्रु होता है। इसकी परवशता, हीनस्थिति, अपनी प्रशंसा का कथन करना उद्दीपक होते हैं और धृति, हर्षता, गर्व इत्यादि व्यभिचारिभाव होते हैं। यह अलङ्कार भी भाव ही हैं किन्तु इसका प्रियमराख्यान प्रीति इत्यादि भावों का विषय नहीं है प्रत्युत अहङ्कार (गर्व) का भाव इसका विषय होता है।

(२०) पर्यायोक्त— विवक्षित अर्थ को वाचक शब्दों द्वारा न कहकर जो अन्य प्रकार से उसका कथन किया जाता है, वह पर्यायोक्त अलङ्कार कहलाता है। पर्यायोक्त का अर्थ है- शब्दान्तर से कथन। जिस शब्द से व्यञ्जना द्वारा विवक्षित अर्थ का कथन होता है वह शब्दोपात्त कथन के पर्याय के रूप में होता है। पर्याय रूप में कथन होने के कारण यह पर्यायोक्त अलङ्कार कहलाता है। इस कथन को ध्वनि अथवा गुणीभूत व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ वाच्यार्थ ही व्यञ्जना रूप से अभिव्यक्त होता है जबकि ध्वनि में वाच्यार्थ ध्वनि का विषय नहीं होता। इसके अतिरिक्त यहाँ व्यङ्ग्यार्थ भी स्पष्ट हुआ करता है। अत एव वाच्यातिशयी होने के कारण इसे ध्वनि नहीं प्रत्युत उक्तिवैचित्र्यमात्र मानना अभीष्ट है।

(२१) समाहित— प्रयोजनरूप किसी कार्य को प्रारम्भ कर रहे व्यक्ति को अकस्मात् सौभाग्यवश उसे सिद्ध करने वाले अन्य साधन के उपस्थित हो जाने के कारण अर्थात् अभीष्ट का उपात्त उपाय से अन्यथा दैववाशात् होने के कारण समाहित अलङ्कार कहलाता है। यह अलङ्कार कुछ व्यङ्ग की छाया से युक्त होता है। परवर्ती आचार्यों ने इसे समाधि अलङ्कार के नाम से प्रस्तुत किया है। कार्य की सुकरता में दैववशात् अन्य वस्तु के आ जाने के कारण समाधि अलङ्कार होता है- 'समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद् वस्त्वन्तरागमात्' (सा०द० १०.८५)।

(२२) उदात्त— अभिप्राय अथवा ऐश्वर्य सम्पत्ति का अतिशय वर्णन उदात्त अलङ्कार कहलाता है अर्थात् प्रस्तुत वस्तु की महाशयता अथवा महैश्वर्यशालिता का वर्णन उदात्त अलङ्कार होता है। यह अलङ्कार दो प्रकार का होता है- आशय महात्म्य और वैभव माहात्म्य। आशय माहात्म्य उदात्त में मुख्यता (वाच्यता) महापुरुषों के चेष्टितों के वर्णन की होती है अर्थात् महापुरुषों के लोकोत्तर चरित के चित्रण के माध्यम से आशय (हृदय) का माहात्म्य व्यक्त किया जाता है जो उसमें विद्यमान शरीर सम्पत्ति और गुणों के वर्णन द्वारा स्थायीभावों और सञ्चारी आदि भावों की अभिव्यक्ति के रूप में काव्य को शोभायुक्त बनाता है। वैभवमाहात्म्य उदात्त में वैभव का वर्णन वाच्य रूप में ही इतना अधिक प्रभावशाली होता है कि उससे पर्यवसित आलम्बन- माहात्म्य उसके आगे अत्यन्त गौण ही रहता है।

(२३) अपह्नुति— विवक्षित वस्तु के गुण, क्रिया इत्यादि धर्म को छिपाकर उसके

स्थान पर अन्य गुण, क्रिया इत्यादि धर्म को व्यवस्थापित करना अपह्नुति अलङ्कार कहलाता है। दण्डी ने अपह्नुति के दो भेदों को माना है– अतिशय की व्यङ्गता वाली अपह्नुति और औपम्यव्यङ्गता वाली अपह्नुति। अतिशय की व्यङ्गता वाली अपह्नुति भी तीन प्रकार की होती है– धर्मापह्नुति, विषयापह्नुति और स्वरूपपाह्नुति। जिस अपह्नुति में धर्म को छिपा कर उसके स्थान पर अन्य धर्म को स्थापित किया जाता है, वह धर्मापह्नुति है। जहाँ विषय को छिपा कर उसके स्थान पर अन्य विषय को स्थापित किया जाता है, वह विषयापह्नुति है। जहाँ पदार्थ के स्वरूप को छिपाकर उसके स्थान पर अन्य स्वरूप की उद्भावना की जाती है, वह स्वरूपापह्नुति कहलाता है। उपमापह्नुति में प्रकृत के अपह्नव और अप्रकृत की स्थापना से दोनों में सादृश्य व्यक्त होता है। इस उपमाव्यञ्जक अपह्नुति का प्रदर्शन उपमा के निरूपण के प्रसङ्ग में किया जा चुका है। अपह्नुति के अन्य भेदों में रूपकापह्नुति, उत्प्रेक्षापह्नुति की भी उद्भावना की जा सकती है। ऐसे प्रभेदों का उदाहरण काव्यप्रबन्धों में देख लेना चाहिए।

(२४) श्लेष— स्वरूपतः समान किन्तु अनेक अर्थों वाला कथन श्लेष कहलाता है। अर्थात् एक ही कथन (शब्द) में जहाँ अनेक अर्थ (श्लिष्ट = जुड़े हुए होते हैं, वह श्लेष कहलाता है। श्लेष दो प्रकार का होता है– अभिन्नपद श्लेष और भिन्नप्रायपद श्लेष। वह समान स्वरूप वाला पद जिसका खण्ड किये विना ही अनेक जुड़े अर्थ निकल जाते हैं, अभिन्नपद श्लेष कहलाता है तथा इसके विपरीत सुनने में समान रूप वाला वह पद जिसे खण्डित करके एकाधिक अर्थ निकाले जाते है, भिन्नपदप्राय श्लेष कहलाता है। परवर्ती आचार्यों ने अभिन्नपद श्लेष को अभङ्ग श्लेष तथा भिन्नपदप्राय श्लेष को सभङ्ग श्लेष नाम से अभिहित किया है। इनके अतिरिक्त एक अन्य भेद उभयात्मक श्लेष की उद्भावना किया है जिसमें अभिन्न सभिन्न दोनों प्रकार के श्लेषों का मिश्रण होता है।

दण्डी ने अन्य अलङ्कारों के अङ्गभूत श्लेष के रूप में उपमाश्लेष, रूपकश्लेष, आक्षेपश्लेष और व्यतिरेक श्लेष का उल्लेख किया है किन्तु तत्तत् अलङ्कारों के प्रसङ्ग में इन भेदों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इनके अतिरिक्त श्लेष के अन्य अभिन्नक्रिय, अविरुद्धक्रिय, विरुद्धक्रिय, नियमाक्षेपरूपोक्ति, अविरोधी और विरोधी– इन सात भेदों का सोदाहरण व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

(२५) विशेषोक्ति— जहाँ विवक्षित वस्तु की अतिशय विशेषता प्रदर्शित करने के लिए कार्यसिद्धि में अपेक्षित गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य का वैकल्य (विकलता, साकल्य का विपर्यय, असमग्रता, अभाव) वर्णित होता है, वह विशेषोक्ति अलङ्कार कहलाता है। गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य इन चार पदार्थों के वैकल्य के आधार पर इसके चार भेद तो सिद्ध होते हैं। हेतु आदि के कथन से इसमें अतिरिक्त शोभा आ जाती

है। अतः विशेषोक्ति में वर्ण्यविषय की विशेषता व्यक्त होने के मूल आधार पर इसके चार ही भेद हैं, हेतु का कथन तो उसमें विशेष शोभा को उत्पन्न करता है। अतः यह हेत्वादि कथन विशेषोक्ति के चारों भेदों में सम्भव है। विशेषोक्ति के गुण, जाति, क्रिया और द्रव्य के आधार पर विभाजित भेदों में से प्रत्येक को पुनः हेतुकथन-रहित और हेतुकथन-सहित– इन दोनों आधारों पर दो-दो भेद हो जाते हैं।

विभावना में प्रधानता कारणान्तर विभावित होता है या स्वाभाविकता का प्रकाशन होता है उसमें विशेष प्रदर्शन को प्रधानता नहीं दी जाती और अतिशयोक्ति में प्रस्तुत वस्तु की अतिशयता मात्र का कथन होता है, गुणादि वैकल्य नहीं। यही विभावना और अतिशयोक्ति का इस अलङ्कार से भेद है। अर्वाचीन आचार्यों ने कारणों के रहने पर भी कार्य के होने को विशेषोक्ति माना है– 'सति हेतौ फलाभावो विषेशोक्ति...... (सा०द० १०.६७)।

(२६) तुल्ययोगिता— विवक्षित (कवि जिन्हें प्रकट करना चाहता है, उन) गुणों (धर्मों) के कारण उत्कृष्ट अप्रस्तुत वस्तु से किसी प्रस्तुत वस्तु की समानता न होते हुए भी उसे समान बतलाकर उस वस्तु की प्रशंसा अथवा निन्दा व्यक्त करने के लिए किया गया कथन तुल्ययोगिता अलङ्कार कहलाता है। तुल्ययोगिता में विवक्षित प्रधान नहीं होता, वह केवल प्रस्तुत वस्तु की प्रशंसा अथवा निन्दा का साधन होता है। इसमें सामान्य प्रशंसा अथवा निन्दा की अपेक्षा अधिक प्रशंसा अथवा निन्दा व्यक्त होती है और प्रधान होती है। तुल्य दो अधिक गुण वाले अथवा न्यून गुण वाले पदार्थ का अथवा तुल्य एक धर्म के कारण सम्बद्ध होना तुल्ययोगिता है। यह दो प्रकार की होती है– स्तुतिरूपा तुल्ययोगिता तथा निन्दारूपा तुल्ययोगिता। जहाँ अप्रस्तुत वस्तु के गुणों से प्रस्तुत वस्तु के गुणों की समानता दिखलाकर प्रस्तुत वस्तु की प्रशंसा की जाती है, वह स्तुतिरूपा तुल्ययोगिता है तथा जहाँ निन्दा की जाती है, वह निन्दारूपा तुल्ययोगिता है।

(२७) विरोध— जिस कथन में प्रस्तुत वस्तु के उत्कर्ष को प्रदर्शित करने के लिए परस्पर विरोधी पदार्थों का सानिध्य प्रदर्शित किया जाता है, वह विरोध अलङ्कार कहलाता है। तात्पर्य यह है कि आपततः विरुद्ध प्रतीत होने वाले पदार्थों का प्रस्तुतोत्कर्ष बतलाने के लिए समानाधिकरण्य प्रस्तुत किया जाय तो वह विरोध अलङ्कार होता है। दण्डी ने उदाहरणों में परस्पर विरोधी क्रिया, गुण और द्रव्य पदार्थों का एक अधिकरण में एक काल में संसर्ग (सहावस्थान) को दिखलाया है। अतः आचार्य को लक्षण में पदार्थों से ये तीनों तथा संसर्ग से सहावस्थान अभीष्ट है।

भेद— दण्डी ने विरोध के भेदों का नामतः या लक्षणतः उल्लेख नहीं किया है किन्तु उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि विरोध के आश्रयभूत द्रव्य, गुण और क्रिया– ये

पदार्थ भिन्न या अभिन्न अधिकरणों में एक ही समय में अवस्थित होते हैं। दण्डी ने विरोध के आश्रयभूत जाति का उदाहरण नहीं दिया है। इस प्रकार विरोध के आधारभूत द्रव्य, गुण और क्रिया के भेद से तीन भेद पुनः इन पदार्थों की भिन्नता तथा अभिन्नता के आधार पर प्रत्येक के दो-दो प्रभेद हो जाते हैं। इसमें जाति को सम्मिलित कर लेने पर प्रभेदों की सङ्ख्या दो और बढ़ जाती है। ये विरोधी पदार्थ जातीय या विजातीय होते हैं– इस प्रकार प्रत्येक प्रभेदों के जातीय और विजातीय भेद से दो-दो प्रभेद हो जाते हैं। ये सभी विशेषताएँ श्लेषाविद्ध भी हो सकती है और श्लेष से रहित भी। इस प्रकार इन आधारों पर दण्डी के विरोध अलङ्कार का विभाजन किया जा सकता है।

(२८) **अप्रस्तुतप्रशंसा**— प्रस्तुत वस्तु की निन्दा के लिए की गयी अप्रस्तुत वस्तु की प्रशंसा अप्रस्तुतप्रशंसा कहलाती है। अर्थात् प्रस्तुत वस्तु (विवक्षित उपमेय) से अन्य अप्रस्तुत उपमान के विषय में, उसे विषय बनाकर (अप्रस्तुत) की जो स्तुति होती है तो जो स्तुति (प्रशंसा) होती है, वह अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। इस कथन में अप्रकृत की स्तुति कही गयी है। वस्तुतः अप्रस्तुत का प्रस्तुत से सम्बन्ध सूचित हुए बिना केवल अप्रस्तुत की प्रशंसा अकिञ्चित्कर है, अलङ्कारता तो दूर की बात है। अतः दण्डी के इस लक्षण में अप्रस्तुत की प्रशंसा = प्रस्तुति से प्रस्तुत की प्रतीति स्वतः पर्यवसित होती है। यह पर्यवसित अर्थ 'तु' से द्योतित होता है : अप्रकान्त विषय वाच्य है इसके विपरीत प्रकान्त गम्य है।

(२९) **व्याजस्तुति**— जब प्रतीयमान निन्दा के द्वारा प्रशंसा का कथन होता है, वह व्याजस्तुति अलङ्कार, कहलाता है। इस अलङ्कार में दोषाभास के समान प्रतीत होने वाले गुण ही मुख्य कारण होते हैं। अर्थात् जहाँ निन्दा के बहाने प्रशंसा होती है वहाँ व्याजस्तुति अलङ्कार कहलाता है। अर्थात् जिस कथन में प्रकट में तो विवक्षित की निन्दा की जाती है, पर उससे प्रकृत की प्रशंसा व्यक्त होती है, उसे व्याजस्तुति अलङ्कार कहा जाता है। वस्तुतः वास्तविक दोषों को उद्घाटित नहीं किया जाता अपितु निन्दा का आभास उत्पन्न किया जाता है। दण्डी के अनुसार निन्दा के बहाने प्रशंसा का कथन व्याजस्तुति है किन्तु मम्मट आदि आचार्यों ने व्याजस्तुति को निन्दा के बहाने प्रशंसा और प्रशंसा के बहाने निन्दा का कथन– इन दो भागों में विभाजित किया है– 'व्याजस्तुतिमुखनिन्दा स्तुतिर्वा रुढिरन्यथा' (का०प्र० १०.११२)।

दण्डी ने व्याजस्तुति के भेदों की परिगणना अथवा अन्यथा निर्देश करके नहीं किया है। उनके द्वारा निर्दिष्ट उदाहरणों के आधार पर भेदों की कल्पना की जा सकती है। प्रथम उदाहरण– 'तापसेनापि रामेण..... (२.३.४४) में व्याजस्तुति उपमान में गुण वैकल्य के कारण सम्भूत विशेषोक्ति की भूमिका पर आधारित है तथा श्लेष-रहित है। इससे

स्पष्ट होता है कि आचार्य को व्याजस्तुति अलङ्कार का प्रतिमानयुक्त श्लेष-रहित स्वरूप वाला प्रथमभेद अभीष्ट है। दूसरे उदाहरण– 'पुंसः पुराणाद्' (२.३.४५) में व्याजस्तुति अभिन्नपद श्लेष से प्रतिभाषित समासोक्ति से युक्त है तथा तीसरे उदाहरण– 'भुजङ्गभोगा' (२.३.४६) में व्याजस्तुति अभिन्नपदप्राय श्लेष से आविद्ध है। इससे यह सूचित होता है कि व्याजस्तुति को रमणीय बनाने में उन्हें अतिशय और सादृश्य मूलक अलङ्कारों का तथा श्लेष का योग महत्त्वपूर्ण लगता है। इन व्याजस्तुतियों को श्लेष से अनुविद्ध बनाने से श्लेष की तथा तदुपलक्षित अन्य अलङ्कारों की अङ्गता और व्याजस्तुति की मुख्यता उन्हें अभीष्ट है।

(३०) निदर्शन— जहाँ अन्य कार्य में लगे हुए पदार्थ द्वारा जो कोई उस कार्य के समान अभीष्ट अथवा अनिष्ट फल (कार्य) प्रदर्शित किया जाता है, वह निदर्शन अलङ्कार होता है। दण्डी ने इसके सत्फल और असत्फल भेद किये हैं।

(३१) सहोक्ति— गुण या क्रियाओं अथवा द्रव्यों का एक साथ अस्तित्व- कथन सहोक्ति कहलाता है। अर्थात् जहाँ सम्बन्धिभेद से भिन्न होने वाले भी गुण, क्रिया, द्रव्य सहार्थक शब्द एक साथ कहे जाते हैं, वह सहोक्ति कहलाता है। गुण, क्रिया और द्रव्य के आधार पर सहोक्ति तीनं प्रकार का होता है।

(३२) परिवृत्ति— वस्तुओं के विनिमय अर्थात् आदान-प्रदान को परिवृति अलङ्कार कहा जाता है। विनिमय का तात्पर्य है– अपना कुछ देकर उसके स्थान पर दूसरे का कुछ ले लेना। यह विनिमय तीन प्रकार का हो सकता है— (क) सम से सम का (ख) न्यून से अधिक का और (ग) अधिक से न्यून का। इस विनियम के आधार पर परिवृत्ति के तीन भेद होते है।

(३३) आशीः— अभीष्ट वस्तु के सम्बन्ध में आशीर्वचन आशीः नामक अलङ्कार कहलाता है। आचार्य दण्डी ने इस अलङ्कार को एक ही कारिका में लक्षण तथा उदाहरण देकर समाप्त कर दिया है। इससे प्रतीत होता है कि यह अलङ्कार उन्हें अधिक रुचिकर नहीं है।

(३४) संसृष्टि— जहाँ पर एकत्र अनेक अलङ्कारों की उपस्थिति होती है, उसे संसृष्टि अलङ्कार कहा जाता है। कतिपय आचार्य इसे सङ्कीर्ण अलङ्कार के नाम से भी अभिहित करते हैं। दण्डी के अनुसार संसृष्टि अलङ्कार दो प्रकार का होता है– अङ्गाङ्गिभावावस्थापन तथा समकक्षता। जिस संसृष्टि में एक स्थान पर एकाधिक अलङ्कारों में अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होता है अर्थात् एक अलङ्कार प्रधानरूप से तथा अन्य गौण रूप से उपस्थित होते हैं वह अङ्गाङ्गिभावावस्थापन संसृष्टि कहलाता है। तथा जिन एकाधिक अलङ्कारों में अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं होता वे सभी स्वतन्त्ररूप से अवस्थित होते

हैं, वह समकक्षता संसृष्टि होती है। दण्डी ने संसृष्टि और सङ्कर– इन प्रभेदों को अलग-अलग न मानकर सभी को संसृष्टि ही माना है। परवर्ती आचार्यों के अनुसार समकक्षता तथा विद्यमान दो अलङ्कारों के संसर्ग से संसृष्टि अलङ्कार होता है। अङ्गाङ्गिभाव के साथ एकाश्रय-स्थिति और संदिग्धता सङ्कर अलङ्कार में समाविष्ट है।

(३५) भाविकत्व— सभी प्रकार के काव्यप्रबन्धों में काव्य के निबन्धन में व्याप्त होकर स्थित रहने वाला गुण-विशेष भाविक कहलाता है। इसी विशेषता के कारण दण्डी ने इसे अलङ्कार न कहकर गुणविशेष कहा है। भाविक का अर्थ है– भाव में होने वाला। काव्यों में कवि का जो अभिप्राय काव्य की समाप्ति पर्यन्त विद्यमान रहता है, वह भाविक कहलाता है। कवि जिस अभिप्राय से काव्य का आरम्भ करता है, उसी का निर्वाह करता हुआ उसे समाप्त करता है। इस प्रकार सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त अभिप्राय भाव होता है। भाविक का दण्डी की अलङ्कार संकल्पना में विशिष्ट स्थान है। वह सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त रहता है। इसी लिए दण्डी ने इसका कोई उदाहरण नहीं दिया है।

कल्पना की दृष्टि से भाविकत्व एक व्यापकतत्त्व है, जो किसी अलङ्कार-विशेष या गुग-विशेष में समाहित नहीं हो सकता। परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने भाविक के इस स्वरूप को पूर्णत: बदल कर इसका क्षेत्र सीमित कर दिया है जिससे वह केलव एक अलङ्कार बनकर रह गया है। उनके अनुसार भूतकालिक अथवा भविष्यकालिक किसी अद्भुत पदार्थ का ऐसा विशदवर्णन जो प्रत्यक्ष के समान प्रतीत हो भाविक अलङ्कार कहलाता है (द्रष्टव्य सा०द० १०.९३)।

दण्डी ने भाविक के चार विशिष्ट तत्त्वों का निर्देश किया है जो भाव पर आश्रित होते हैं, वे ये हैं– (क) काव्य की कथा-वस्तु के सभी भागों का परस्पर उपकारिताभाव सम्बन्ध होना चाहिए। (ख) काव्य में निष्प्रयोजन किसी विशेषण का प्रयोग नहीं होना चाहिए। (ग) नगर, समुद्र इत्यादि का वर्णन उचित स्थान पर करना चाहिए और (घ) वर्णन-क्रम के अनुसार गूढ़ विषय वस्तु की भी अभिव्यक्ति करनी चाहिए। दण्डी के अनुसार प्रतिपादित ये चारों तथ्य कवि के भाव (अभिप्राय) पर आश्रित होते हैं अत: ये सभी भाविक कहलाते हैं।

दण्डी ने कतिपय आलङ्कारिकों को स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में अभिमत अनन्वय, ससन्देह, उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव का अन्तर्भाव पूर्वोक्त अलङ्कारों में ही माना है। अनन्वय और ससन्देह को उपमा के भेद के रूप में स्वीकार करके उनकी सोदाहरण व्याख्या किया है तथा उपमारूपक को रूपक और उत्प्रेक्षावयव को उत्प्रेक्षा का भेद माना है।

तृतीय परिच्छेद

आचार्य दण्डी के 'तस्याः (काल-चतुःषष्टेः) कला-परिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति' (काव्यादर्श ३।१७१) कथन से विदित होता है कि काव्यादर्श में कम से कम चार परिच्छेद अवश्य थे। पर आज उल्लिखित चौथा कला-परिच्छेद उपलब्ध नहीं है। केवल तीन परिच्छेद ही उपलब्ध है। इनमें से प्रथम और द्वितीय परिच्छेदों की विषयवस्तु तथा उससे सम्बद्ध बातों का विवरण इन परिच्छेदों की भूमिकाओं में किया जा चुका है। प्रकृत तृतीय परिच्छेद पर कुछ विचार किया जा रहा है।

चौथे परिच्छेद का उल्लेख कला-परिच्छेद नाम से करने से प्रतीत होता है कि आचार्य दण्डी ने अपने ग्रन्थ के अवयव परिच्छेदों का उनकी विषय वस्तु के आधार पर नाम दिये थे। वे आज उपलब्ध ग्रन्थ के न मुख्य भाग में मिलते हैं और न हस्तलेखों में न उनकी पुष्पिकाओं में। दण्डी ने 'काश्चिन्मार्ग-विभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः' (२।३) में प्रथम परिच्छेद की विशेषता 'मार्ग-विभाग' बतलाया है। प्रथम परिच्छेद की संज्ञा दण्डी को मार्ग-विभाग-परिच्छेद इष्ट थी, यह सूचित होता है। इसीलिए आचार्य रत्नश्री-ज्ञान ने उस परिच्छेद की टीका की पुष्पिका में प्रथम परिच्छेद का उल्लेख 'मार्ग-विभाग परिच्छेद' के नाम से किया है।

द्वितीय परिच्छेद की विषय वस्तु स्पष्टतः अर्थालङ्कार हैं। अतः उनका नाम 'अर्थालङ्कार परिच्छेद' आचार्य को इष्ट है। रत्नश्री ज्ञान ने भी यही नाम दिया है।

तृतीय परिच्छेद की विषयवस्तु (क) सुकर दुष्कर शब्दालङ्कार (३।१-१२४) तथा (ख) दोष (३।१२५-१८५) हैं। अतः इस परिच्छेद की क्या संज्ञा दण्डी को अभीष्ट थी, यह निर्णय करना कठिन है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' (गौण और प्रधान में से प्रधान के आधार पर नाम रखे जाते हैं) इस न्याय से तो इसका नाम शब्दालङ्कार परिच्छेद उचित है। शब्दालङ्कारों (४-१२४) में ४-३७ श्लोकों तक सुकर अलङ्कारों का निरूपण आचार्य ने किया है तथा शेष ३८-१२४ श्लोकों में दुष्कर अलङ्कारों का। अतः १८७ श्लोकों वाले परिच्छेद में ८७ श्लोकों में निरूपित दुष्कर को प्रधान मानना एक विषय के निरूपक श्लोकों की अधिकतम सङ्ख्या के आधार पर तो उचित है, परन्तु समग्र सङ्ख्या की अपेक्षा से उचित नहीं है। अतः इसे शब्दालङ्कारदोष परिच्छेद नाम दिया है। इस नाम से इस परिच्छेद का सम्पूर्ण विषय प्रकट हो जाता है।

विषय-विवेचन— (क) सिंहावलोकन : काव्यादर्श का विषय काव्यलक्षण है। 'लक्षण' शब्द ✓ लक्ष + ल्युट् (कारण) में निष्पन्न है। प्रकृत ग्रन्थ काव्य को लक्षित करने का साधन है। लक्ष् से तात्पर्य है निरूपित करना, मुख्य चिह्नों को बताना। अतः

काव्य के स्वरूप के अन्तर्गत मुख्य विशेषताओं को बताना प्रकृत ग्रन्थ का प्रधान विषय है। काव्य के ये लक्षण—मुख्य धर्म—काव्य की बाह्य और आन्तरिक संरचना के मुख्य (स्वरूपाधायक) तत्त्व हैं। इनके बिना काव्य काव्य ही नहीं होगा। इन तत्त्वों को आचार्य दण्डी ने सर्वप्रथम (१।८ में) ग्राह्य (गुण) और हेय (दोष) की दृष्टि से देखकर पहले ग्राह्य पदार्थों का निरूपण दो क्रमों में किया है : (क) काव्य की बाह्यसंरचना अर्थात् काव्य-शरीर (१।१०-३९) तथा (ख) उस काव्यशरीर को शोभायुक्त करने वाले तत्त्व अर्थात् अलङ्कार (१।४० से ३।१२४ तक)। (ख) अलङ्कार का निरूपण आचार्य ने (अ) मार्ग-विशेष से सम्बद्ध और (आ) सर्व-मार्ग-साधारण के रूप में किया है। प्रथम को उन्होंने गुण नाम दिया है और द्वितीय का अलङ्कार नाम ही रहने दिया है (द्रष्टव्य २।३)। (अ) गुण का निरूपण प्रथम परिच्छेद के शेष भाग में किया है तथा (आ) साधारण अलङ्कार का निरूपण उसे आश्रय (१) अर्थ और (२) शब्द के आधार पर दो विभागों में बाँट कर (१) अर्थालङ्कारों का प्रतिपादन द्वितीय परिच्छेद में और (२) शब्दालङ्कारों का तृतीय परिच्छेद के १-१२४ श्लोकों में किया है। इसके अनन्तर हेय तत्त्व, अर्थात् काव्यनिर्माण में विविध भङ्गियों से आने वाले दोषों का निरूपण (३।१२५-१८५ में) किया है।

(ख) तृतीय परिच्छेद : इस परिच्छेद में आचार्य ने काव्य में ग्राह्य तत्त्वों १. यमक (१-७७), २. आकार बन्ध (७८-८२) और ३. वर्णनियम (८३-९५) के भेद से द्विविध चित्रबन्ध, ४. प्रहेलिकाओं (९६-१२४) इन चार शब्दालङ्कारों का निरूपण इनके लक्षण, भेद तथा उदाहरण देकर किया है। इसके बाद (१२४-१८५ में) हेय तत्त्वों-दोषों का निरूपण किया है।

(१) **यमक :** प्रथम २½ श्लोकों में आचार्य ने यमक का (क) लक्षण तथा (ख) भेदविकल्पन के आधार बताकर इसके भेदों को 'अत्यन्तबहु' बताया है।

(क) लक्षण : वर्णों की विशिष्ट आवृत्ति यमक होता है।

(ख) भेदविकल्पनक आधार : ये आधार आचार्य ने तीन प्रकार के बताये है : (अ) आवृत्ति की (१) निरन्तरता तथा (२) सान्तरता के आधार पर (१) अव्यपेत, (२) व्यपेत, (३) अव्यपेत-व्यपेत। (आ) आवृत्ति के अधिष्ठान के आधार पर पाद के (१) आदि, (२) मध्य तथा (३) अन्त स्थानों तथा (इ) आवृत्ति की व्याप्ति के विषय के आधार पर (१) एक, (२) दो, (३) तीन तथा (४) चार पादों में व्याप्ति। इन दस आधारों के परस्पर संयोजन के फलस्वरूप यमक के वस्तुतः 'अत्यन्तबहु' भेद हो जाते हैं। गणना के अनुसार यें ३१५ प्रभेद होते हैं।

इनमें से कुछ भेद सुकर होते हैं, तो कुछ दुष्कर। आचार्य ने पहले (४-३७ श्लोकों में) सुकर यमक दिये हैं, उसके बाद (३८-७७ श्लोकों में) दुष्कर। दुष्करता भी क्रमशः

वर्धमान रूप में प्रदर्शित की है। पादाभ्यास यमक की दुष्करता का अन्तिम 'महायमक' भेद तथा प्रतिलोमयमक दुष्करता की पराकाष्ठा है। यमक के कुशल प्रयोक्ता कवियों भारवि और भट्टि के काव्यों में भी इनके उदाहरण इक्के-दुक्के ही मिलते हैं।

(२) आकार चित्रबन्ध : आचार्य ने 'चित्र' शब्द का प्रयोग 'आकारप्रदर्शक चित्र' का विषय 'गोमूत्रिका' आदि आकारबन्ध और वर्णनियमवान् प्रयोग अभिप्रेत हैं।

आकारबन्ध अलङ्कारों में उन्होंने (१) गोमूत्रिका (७८-७९), (२) अर्धभ्रम (८०-८१), (३) सर्वतोभद्र (८०,८२) नामक तीन बन्धों का प्रदर्शन किया है। ये बन्ध दुष्कर हैं यह स्वतः स्पष्ट है।

(३) वर्णनियमवान् चित्रबन्ध : इसके आचार्य ने तीन भेद किये हैं : (१) स्वरनियमवान्, (२) उच्चारण-स्थान-नियमवान्, (३) वर्णनियम (व्यञ्जन) नियमवान्। इस भेदविकल्पन का आधार स्वर-व्यञ्जन के रूप में वर्णों की द्विविधता तथा उनके उच्चारणस्थान हैं। यह अलङ्कार आचार्य ने सुकर और दुष्कर दोनों प्रकार का बताया है। इन उपादानों का जितनी कम मात्रा में शुद्ध या मिश्रित रूप में प्रयोग होगा, दुष्करता उतनी ही बढ़ती जाएगी। यदि तीनों उपादानों में मात्रा तथा स्वरूप की दृष्टि से एकरूप का कर दी जाए, तो बन्ध बहुत दुष्कर हो जायेगा। आचार्य ने दोनों प्रकार की दुष्करता उदाहरणों से प्रदर्शित की है। उनका एकव्याञ्जननियमवान् चित्रबन्ध तो भारवि के बन्ध (किरातार्जुनीय १५।१५) से भी दुष्कर है।

(४) प्रहेलिका : प्रहेलिकाओं का प्रयोग क्रीडार्थ अत्यन्त प्राचीनकाल से होता आया है। ये वैदिक वाङ्मय में भी मिलती है। दण्डी ने उनका स्वरूप शब्द से ही प्रकाशित हो जाने के कारण सम्भवतः नहीं बताया है। उनके दो प्रयोजन तथा उनके उपयोग के अवसर बताकर उनका स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया है। ये प्रयोजन और अवसर हैं गोष्ठियों और मनोविनोद के अवसरों पर क्रीडा के निमित्त परव्यामोहन है (३.९७)। इसके बाद आचार्य ने (३.९८-१०५ श्लोकों में) पूर्वाचार्योक्त १६ प्रहेलिकाओं के लक्षण बताए हैं। उन्होंने पूर्वाचार्योक्त दोषयुक्त १४ प्रहेलिकाओं का निरूपण उनकी दूषितता के आधार, दोष अपरिसङ्ख्येय हैं, इसलिए नहीं किया। अर्थात् दुष्ट प्रहेलिकाएँ १४ तो क्या, वस्तुत उनकी गिनती करना सम्भव नहीं है अतः जिन प्रहेलिकाओं पर उनके लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषत्व के प्रयोजकों के कारण न घट सकें, उन्हें 'दुष्ट प्रहेलिका' समझा जाए। उनको अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है (३.१०६-१०७)। इसके बाद (३.१०८-१२४ श्लोकों में) उपर्युक्त १६ साधु प्रहेलिकाओं के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

(५) दोष : इस प्रकार काव्य के आदेय तत्त्वों को प्रस्तुत करके आचार्य काव्यों

में वर्जनीय दस दोषों का निरूपण किया है। सबसे पहले उन्होंने ३.१२५-१२६ श्लोकों में उन वर्जनीय दोषों का परिगणन किया। फिर उनके समय में प्रचलित न्यायशास्त्रीय अनुमिति ज्ञान के प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त में हीनता पर आधारित एक दोष पर विचार को (३.१२७ वें श्लोक) कर्कशप्राय होने से अनावश्यक बताकर इस परिगणन को सीमित किया।

वर्गीकरण : आचार्य द्वारा बताए इन १० दोषों को हम प्रथमतः दो वर्गों में बाँट सकते हैं : (क) अपार्थ आदि ९ दोष (१२५ वाँ श्लोक), तथा (ख) देशादिविरोध रूप १० वाँ दोष (१२६ वाँ श्लोक)।

(क) अपार्थ आदि ९ दोषों से १ अपार्थ, और २ व्यर्थ विवक्षित अर्थ को ठीक से न कर पाने से सम्बद्ध अर्थदोष हैं। ३ एकार्थ (पौनरुक्त्य) शब्द-गत और अर्थगत दो प्रकार का है। ४ ससंशय, ५ अपक्रम काव्य में वर्णित वस्तुओं को उक्त (शब्दोपात्त) या औचित्यलब्ध (न्यायोपात्त) क्रम से न रखने से होने वाला दोष है। शेष चार ६ शब्दहीन, ७ यति-भ्रष्ट, ८ भिन्न-वृत्त और ९ विसन्धिक दोष व्याकरण और छन्दःशास्त्र के नियमों के उल्लङ्घन से होने वाले शास्त्रीय शब्दगत दोष हैं। इन ९ दोषों में से ७ यति-भ्रष्ट, ८ भिन्नवृत्त नित्य दोष हैं, जबकि शेष ७ दोष विशेष परिस्थितियों में ग्राह्य भी हो जाते हैं। अतः अनित्य दोष हैं।

(ख) दूसरे वर्ग के देशविरोध दोष के छह भेद हैं। दण्डी ने दोषों की भरतोक्त सङ्ख्या को बनाए रखने के लिए ही इस दोष को एक दोष के रूप में जोर देकर बताया है। वस्तुतः तो इसके आधार बहुत भिन्न हैं। उन्हें यदि एक नहीं कहा जा सकता, तो उन पर आधारित दोष कैसे हो सकते हैं? इसलिये इस दोष को एक दोष न कहकर छह दोषों का एक वर्ग मानना उचित है। ये दोष कवि के वर्ण्य देश, कालचक्र, इतिहास, लोक-वृत्त, सामाजिक गठन, विभिन्न विद्याओं और वेदादि शास्त्रों के ज्ञान में त्रुटि होने से—दण्डी के शब्दां में 'कवि के प्रमाद से'—आते हैं। इन दोषों को पकड़ना भी आसान नहीं है। कवि और सहृदय दोनों को इनके त्रुटिरहित ज्ञान की अपेक्षा होती है। पिछले वर्ग के अधिकांश दोषों के समान ये छहों दोष अनित्य दोष हैं। परिस्थितिविशेष में इनके विषय में त्रुटियुक्त कथन दोष न रहकर गुण बन जाते हैं।

(क) इस वर्ग के दोषों के वर्णन (श्लोक ३.१२८-१६१) में आचार्य ने इनके लक्षण, उदाहरण देकर दोषता तो बताई ही है, वे परिस्थितियाँ भी वे साथ-साथ बताते चले हैं, जिनमें ये दोष न रहकर गुण बन जाते हैं।

(ख) देशादि विरोध दोष का वर्णन उन्होंने (i) इस दोष के आधार देश आदि छह विषयों के भेदों का उपलक्षण (श्लोक ३.१६२-१६३ में) करके (ii) उसका लक्षण

(३.१६४ में) बताकर फिर (iii) प्रत्येक भेद के अवान्तर भेदों के उदाहरण (३.१६५-१७८ श्लोकों में) देकर किया है।

देशादि के विषय में प्रमाद से प्रसिद्धिविपरीत कथन देशादिविरोध दोष होता है। किन्तु कवि के द्वारा कौशल से जानबूझकर किया इस प्रकार का कथन 'दोष' न कहलाकर 'गुण' कहलाता है। अगले छह (३.१८०-१८५) श्लोकों में आचार्य ने देशादिविरोधी कथनों की गुणता के छह उदाहरण प्रस्तुत करके कथन को पुष्ट किया है।

उसके बाद एक (३.१८६ वें) श्लोक में आचार्य दण्डी ने तृतीय परिच्छेद के वर्ण्य विषयों का परिगणन करके अपने विस्तीर्ण निरूपण को 'संक्षेप से दिखलाना' बताकर अपना विनय और शास्त्र की अनन्ता सूचित की है।

इसके अनन्तर (३.१८७ वें श्लोक में) उन्होंने पूर्व परिच्छेदों के समान इस परिच्छेद का भी उपसंहार इस परिच्छेद के विशेष कथ्य दोषता और गुणता का महत्त्व एक कमनीय कल्पना से करके परिच्छेद की समाप्ति की है।

समाप्तिपद्य में 'दोष-गुण' को विशेष महत्त्व देकर आचार्य कदाचिद् यह सूचित करना चाहते हैं कि यदि परिस्थितिविशेष में कोई दोष गुण बन जाता है, तो परिस्थितिविशेष में कोई गुण भी दोष बन सकता है, यह इस विवेचन से व्युत्पन्न बुद्धि वाले कवि और सहृदय को समझ लेना चाहिए।

इस श्लोक में अनुपद उक्त दोषों की दोषता और गुणतामात्र के उल्लेख से यह भी सूचित होता है कि यह श्लोक काव्यादर्श का अन्तिम श्लोक नहीं है। आचार्य इसे तृतीय परिच्छेद की फलश्रुति के कथन के रूप में ही दे रहे हैं। यदि यह ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक होता, तो आचार्य पिछले विषयसङ्ग्रह श्लोक में तथा यहाँ भी समूचे काव्यादर्श से सम्बद्ध कुछ बातें कहते। कला-परिच्छेद की वक्ष्यमाणता के उनके कथन को देखते हुए भी इस परिच्छेद की समाप्ति पर काव्यादर्श की समाप्ति सिद्ध नहीं होती।

— जमुना पाठक

विषयानुक्रमणिका

प्रथमपरिच्छेदः

द्वितीयपरिच्छेदः

विषयः	पृ० सं०
परवशाक्षेपनिदर्शनम्	२४५
परवशाक्षेपनिदर्शनविश्लेषणम्	२४६
उपायाक्षेपनिदर्शनम्	२४७
उपायाक्षेपनिदर्शनविश्लेषणम्	२४८
रोषाक्षेपनिदर्शनम्	२४९
रोषाक्षेपनिदर्शनविश्लेषणम्	२४९
मूर्च्छाक्षेपनिदर्शनम्	२५०
मूर्च्छाक्षेपनिदर्शनविश्लेषणम्	२५१
अनुक्रोशाक्षेपनिदर्शनम्	२५२
अनुक्रोशाक्षेपनिदर्शविश्लेषणम्	२५३
शिलष्टाक्षेपनिदर्शनम्	२५३
शिलष्टाक्षेपनिदर्शनविश्लेषणम्	२५४
अनुशयाक्षेपनिदर्शनम्	२५५
अनुशयाक्षेपनिदर्शनविश्लेषणम्	२५६
संशयाक्षेपनिदर्शनम्	२५७
संशयाक्षेपनिदर्शनविश्लेषणम्	२५७
अर्थान्तराक्षेपनिदर्शनम्	२५८
अर्थान्तराक्षेपनिदर्शनविश्लेषणम्	२५९
हेत्वाक्षेपनिदर्शनम्	२६०
हेत्वाक्षेपनिदर्शनविश्लेषणम्	२६०
अर्थान्तरन्यासदिवेचनम्	२६१
अर्थान्तरन्यासभेदविवेचनम्	२६२
विश्वव्याप्यर्थान्तरन्यासनिदर्शनम्	२६४
विशेषस्थार्थान्तरन्यासनिदर्शनम्	२६४
श्लेषाविद्धार्थान्तरन्यासनिदर्शनम्	२६५
विरोधवानर्थान्तरन्यासनिदर्शनम्	२६६
अयुक्तकार्यार्थान्तरन्यासनिदर्शनम्	२६७
युक्तात्मार्थान्तरन्यासनिदर्शनम्	२६८
युक्तायुक्तार्थान्तरन्यासनिदर्शनम्	२६९
युक्तायुक्तविपर्ययार्थान्तरन्यासनिदर्शनम्	२७०

विषय:	पृ० सं०

तृतीयपरिच्छेदः

विषयः पृ० सं०

विषयः **पृ० सं०**